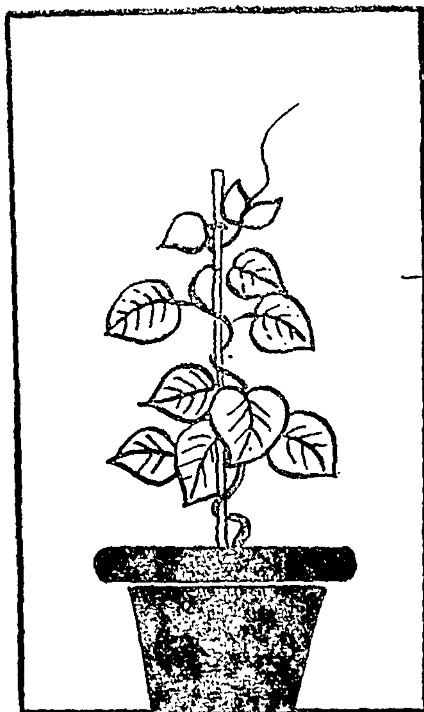


किताब घर
गांधी नगर दिल्ली-110031



दूब और पानी

भगवती शरण सिंह

मूल्य : तीस रुपये / प्रथम संस्करण : 1984 / आवरण : सुभाष मदान
प्रकाशक : किताब घर, मेन रोड, गांधीनगर, दिल्ली-110031
मुद्रक : संजीव प्रिंटर्स, महिला कालोनी, गांधीनगर, दिल्ली-110031

DOOB AUR PANI (Hindi)
by Bhagwati Sharan singh Price : Rs. 30.00

प्रियवर

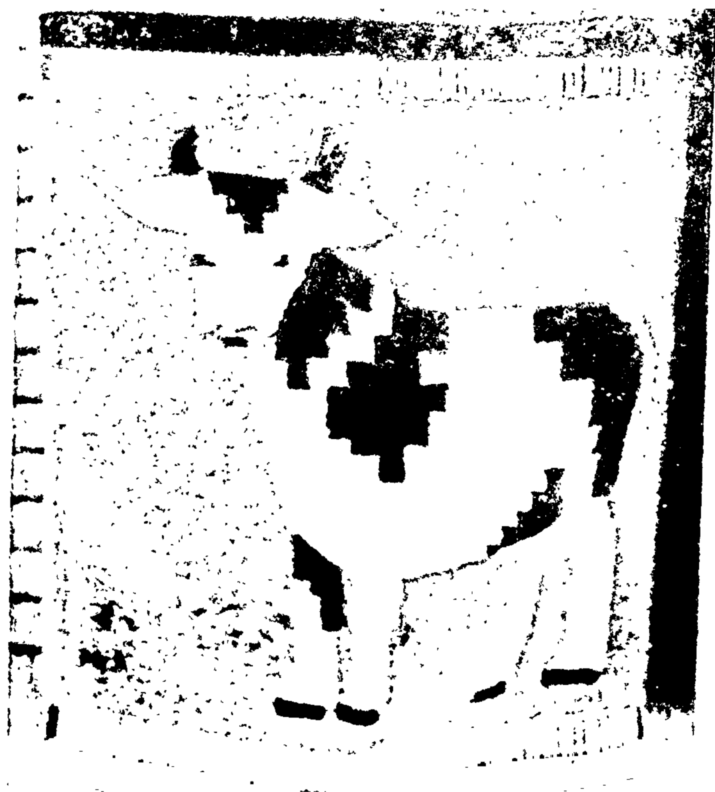
डॉ० विद्यानिवास मिश्र

को

सप्रीति

आभार

इस पुस्तक के लिए मैं अपने मित्र श्री जीत जरधारी, श्री रमेश नारायण तिवारी और श्रीमती दुर्गावती सिंह का आभारी हूं जिन लोगों ने समय-समय पर प्रोत्साहित कर इन विषयों पर रेडियो और योजना के लिए लेख लिखवाये और अब उन्हें संग्रह रूप में प्रकाशित करने का आग्रह और मदद की। मैं श्री सत्यव्रत शर्मा जी का भी आभारी हूं जिन्होंने इसे रुचि लेकर छापने का उपक्रम किया। श्री आनंद सिंह नेगी का भी अनुगृहीत हूं कि उन्होंने इसकी पांडुलिपि टाइप की।

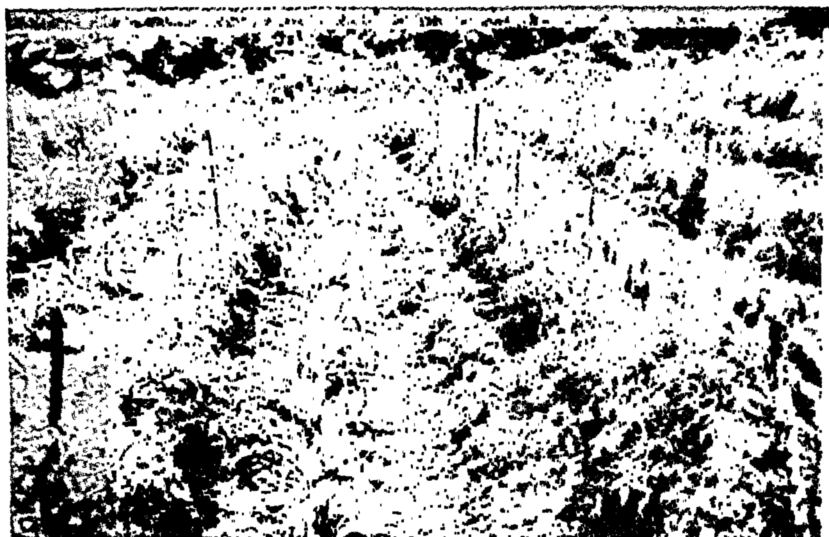


इसके प्राकृतिक रंगों से कालीनों की रंगाई होती है

इसके बीज की मालायें वड़े चाव से लोग खरीदते हैं



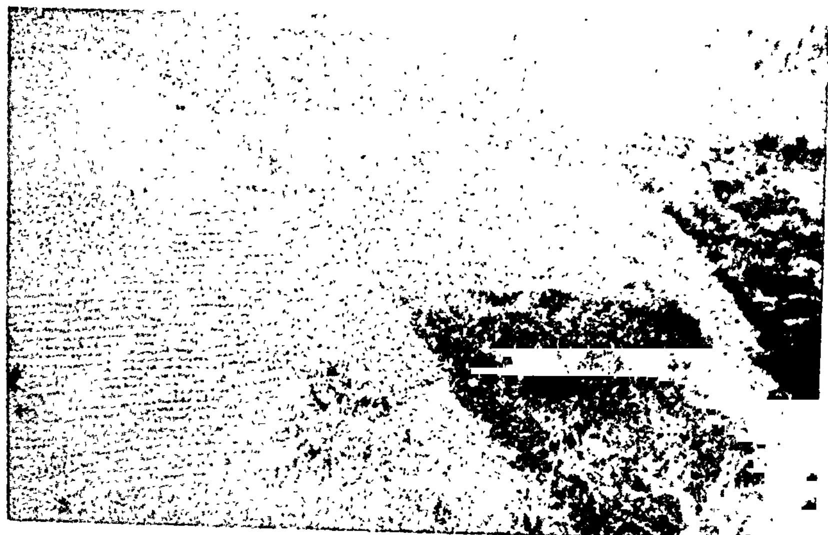
आवश्यकता पड़ने पर इसकी फलियां खायी जा सकती हैं



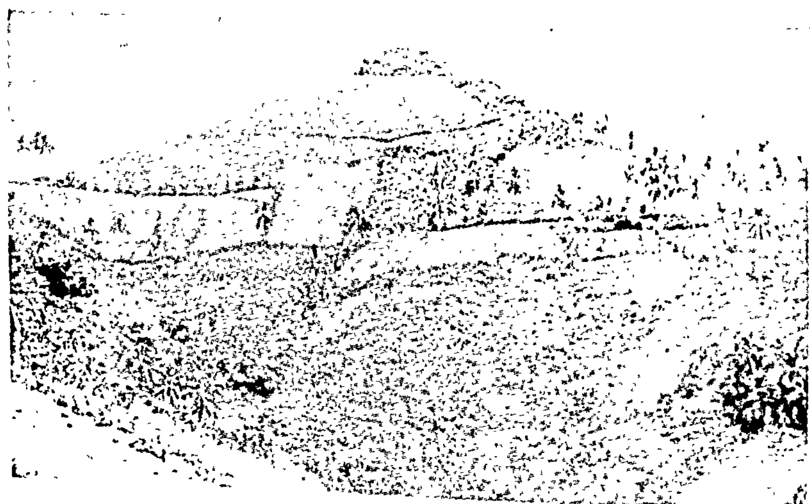
इसे हरी खाद के रूप में प्रयोग लाया जा सकता है



आठ साल पुराने लुसीना का तना इतना मोटा हो सकता है



70^0 ढालुआ जमीन जो और किसी भी काम नहीं आ सकती
वह भी उपयोग में लायी जा सकती है



ढालुआ जमीन पर पानी से भूक्षरण रोकने की विधि

दूब और पानी

मैदानों में चरागाहें और पहाड़ों में घासनियां होती हैं। अपने जानवरों के लिए पहाड़ में औरतें, और मर्द भी, घासों के इन मैदानों में जाकर घास के बड़े-बड़े गट्ठर बनाकर अपने घरों को ले जाते हैं। पहाड़ों के इन घासों की चरागाहों को घास का मैदान कहना पहाड़ी परिदृश्य से नीचे उतरना-सा जान पड़ता है। पर पेड़ों के इक्के-दुक्के होने और ज्यादातर खुला इलाका होने पर यह मैदान जैसे लगते हैं, जबकि होते ढालुआ ही हैं। शायद इसीलिए इनका पहाड़ी नाम "घासनी" ज्यादा उपयुक्त है। मैदानी चरागाहों में भी घास छीलकर गट्ठर के रूप में ले आना पड़ता है। पर सुविधानुसार जानवरों को खुला चरने के लिए छोड़ देना ही अधिक देखा जाता है।

ये घासें भी वनस्पति की ही कोटि में आती हैं, और कई प्रकार की होती हैं। कुछ में नमी अधिक होती है कुछ जल्दी ही सूख जाती हैं, कुछ को पशु बड़े स्वाद से खाते हैं, और उनसे उनका शरीर भी अधिक पुष्ट होता है और दूध भी बढ़ता है। पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो केवल पेट भरने के काम आती हैं। पहाड़ हों या मैदान सब जगह गांठ बनाने की मशीनें न होने के कारण लोगों को इन्हें एकत्र करके रखने की सुविधा नहीं मिली है। विकास कार्यों की बहुत-सी छोटी-बड़ी योजनाएं स्वतंत्रता के बाद बनीं और चलीं। कुछ सफल हुई कुछ असफल। पर पहाड़ों में घास की गांठें बनाने वाली मशीन लगाने का प्रयोग एकाध जगह हिमाचल में तो हुआ था पर इस उपयोगी योजना को विस्तार नहीं दिया गया। कम से कम पहाड़ी इलाकों के लिए तो यह अत्यधिक लाभ देने वाली योजना होती। ऐसी अवस्था में जब घासें होती हैं तभी चारा रहता है। एकत्र कर रखने का कोई उपाय नहीं होने के कारण इनका सदा अभाव बना रहता है। इन्हें उत्पन्न करने का भी कोई स्तुत्य प्रयास अभी तक नहीं देखा जा रहा है। बरसात के दिनों में जब पानी खूब बरसता है यह बढ़ने लगती हैं, और प्रायः जाड़ों तक बनी रहती हैं। पर पहाड़ का पानी रुकता नहीं। वह गधेरों से होता हुआ छोटी-बड़ी नदियों में पहुंच जाता है और वहां से मैदानों में। चौड़ी, बड़ी और कम ढालुआ जमीनों की भी कमी पहाड़ों में होती ही है। जानवरों को मैदानों की तरह खोलकर चराना सुकर नहीं होता। फिर भी पशु चरते ही हैं। लेकिन ऐसा करते हुए वह थकते भी हैं और परिश्रम से भरपेट भोजन भी न मिले तो दूध की कमी होना स्वाभाविक है।

वनस्पतियों और पानी का रिश्ता बड़ा गहरा और पुराना है। यों तो और कई

पुराने रिश्ते हैं। जीव और पृथिवी, वनस्पनि और पानी, जीव वनस्पति, पृथिवी और पानी; सव गहरे संवंधों वाले हैं। एक के विना दूसरा नहीं पनप सकता। इसी प्रकार, एक के अधिक हो जाने पर दूसरे में कमी आ जाना भी स्वाभाविक है। एक के अधिक बढ़ जाने पर दूसरे में उसी अनुपात से कमी आ जाती है और फिर उस कमी का असर वर्षा पर पड़ता है।

इस वात को समझने के लिए आज की स्थिति को ही लिया जाये। आज आदमी की आबादी प्राय: सभी जगह, या यों कहा जाये कि कुल मिलाकर वहुत वढ़ गयी है और कई जगह अभी भी तेजी से वढ़ती जा रही है। आदमी भी जीव कोटि में ही आता है। जैसे सब जीव हैं वैसे ही मनुष्य भी एक जीव ही है। केवल भाषा और विचार शक्ति रखने के कारण यह अन्य जीवों से भिन्न, और जीवों में भी उच्चतम माना जाने लगा है। मनुष्य की आवादी वढ़ जाने का असर पृथिवी पर भी पड़ा है और वनस्पतियों पर भी। ज्यों-ज्यों आवादी वढ़ती गयी पृथिवी का खुला भाग उसके रहने के लिए छोटा पड़ता गया। अत: उसने जंगल काटने शुरू कर दिये। हर पेड़-पौधा चाहे वह जंगली हो अथवा मनुष्य द्वारा उगाया गया हो वनस्पति ही है। उसकी कोटि वही है। वनस्पतियों के वासस्थान को साफ कर मनुष्य अपने उपयोग में लाने लगा।

जब वनस्पति कम हुई तो मनुष्य को छोड़कर अन्य जीवों की आवादी पर असर पड़ा। जाने कितने प्रकार के पशु-पक्षी तो हमेशा के लिए गायव हो गए। कम होती हुई वनस्पतियों का असर मौसम पर पड़ा। मौसम वदलते गए। वरसात के समय सूखा, और गर्मी के समय बरसात। कहीं वरसात अधिक तो कहीं कम। कभी अचानक नदियों में बाढ़ आने लगी तो कहीं-कहीं वे नदियां भी सूखने लगीं जिनमें सदा साफ पानी वहा करता था; जिनके दोनों किनारे हरे-भरे वृक्षों से झूमते रहते थे। आदमी की वढ़ती हुई आवादी का असर ताल-तलैयों पर भी पड़ा। कुछ तो पट गयीं, कुछ सूख गयीं। जो रह गयीं वह गंदगी की हालत में प्राय: नाकाम हो गयीं। नदियां भी गंदी हुई। उनमें आदमी ने अपनी सभ्यता और औद्योगिक विकास का उच्छिष्ट डालना शुरू किया। वड़े-वड़े नगरों और कल-कारखानों की गंदगी एक ओर से इन्हीं नदियों में जाने लगी और दूसरी ओर से इन्हीं का पानी निकाल कर साफ किया जाने लगा ताकि मनुष्य के पीने के काम आ सके।

यह सव जो कुछ हुआ वह तो हुआ, पर सबसे अधिक नुकसान वन्य जीवों और वनस्पतियों का हुआ। वनस्पतियां जीवों का सदा से सहारा रही हैं। हजारों हजार वरस पहले जब मनुष्य ने खेती शुरू नहीं की थी तब अन्य जीवों के समान वह भी स्वयं उगने वाली वनस्पतियों को ही खाकर जीवित और स्वस्थ रहता था। आज खाने के काम आने वाले अन्नों में धान और यव ही शायद ऐसे अन्न हैं जो वन्य वनस्पति के रूप में भी कभी उगा करते थे और उनके वर्तमान रूपों में उनके आदिम रूप की प्रतिच्छाया मात्र रह गयी है। लेकिन जिस दिन मनुष्य नें जमीन खोदकर अन्न उपजाने की प्रक्रिया प्रारंभ की उसी दिन वनस्पति विनाश का भी श्रीगणेश हुआ। ज्यों-ज्यों अन्न

उपजता गया त्यों-त्यों कई प्रकार की वनस्पतियों का, जिन्हें प्राचीन ग्रंथों में ओषधि भी कहा गया है, ह्रास होता गया। कई नये प्रकार के अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ, कई प्रकार के जड़मूल और कंद भी उपजे तो कई प्रकार के नष्ट भी हुए, पर सब कुछ होते हुए भी इस शती के प्रारंभ के पहले तक इन चारों का आपसी संतुलन और साझेदारी बहुत नहीं बिगड़ी थी।

जब तक यह साझेदारी और संतुलन बना रहा वन्य सुषमा और वनस्पतियों की चांदनी छिटकी रही। मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी कोई प्रतिकूल प्रभाव परिलक्षित—कम से कम प्रत्यक्षतः—नहीं हुआ। उसका मन भी सुखी रहा, तन भी स्वस्थ रहा। आज वह दोनों से दुःखी हो गया है। उसका मन अब सदा उदास रहता है। उसका शरीर अब नीरोग नहीं है। जो वनस्पतियां उसे अपने प्रकृत रूप से स्वस्थ रखती थीं अब वह दवाओं के कारखानों में जाकर भी उसे पूर्ण स्वस्थ रखने में असमर्थ हो गयी हैं। ये दवाएं एक रोग को रोकती हैं तो दूसरी व्याधि खड़ी कर देती हैं। हां, जो काम बड़ी सफलतापूर्वक वह कर रही हैं वह यह कि दवाओं के नाम पर मुनाफाखोरी और मिलावट को बढ़ावा दे रही हैं। अब वे ओषधियां—अर्थात् वनस्पतियां—मानव तन मन की संपूर्णता में देवता नहीं रह गयीं। अब न उनकी पूजा होती है और न उनकी पहचान। वे कहीं खो गयीं।

भारतीयों को अपने यहां उगने वाली वनस्पतियों की पहचान अच्छी थी। वे पृथिवी को भी पहचानते थे। दोनों के साथ जल को भी जानते थे। उनकी मर्यादा के लिए उन्होंने उन्हें अच्छे-अच्छे नाम दिये और अपने साहित्य में उन्हें अच्छा स्थान दिया। शतपथ ब्राह्मण में एक कथा है। विष्णु को लिटाकर जब देवों ने असुरों से संग्राम में हार कर भी छल से सारी पृथिवी अपने लिए ले ली तो उन्होंने ओषधियों के मूल में यज्ञ को पाया। चूंकि ओषधियां पृथिवी पर थीं और उन्होंने वहां यज्ञ को पाया था अतः पृथिवी का नाम वेदि भी पड़ गया। जब पृथिवी को वेदि कहा तो उसे सूक्ष्मा—अच्छी भूमि—और शिवा—कल्याणी भी कहा। दूसरे शब्दों में भारतीयों की यह पुरानी मर्यादा रही है कि वह पृथिवी को अपनी माता मानकर उसे सूक्ष्मा और शिवा के रूप में देखते रहे हैं। इस पर भी जब उनका मन नहीं भरा तो फिर उसे स्योना और सुषमा कहा। अर्थात् सुख देने वाले अच्छे आसन के रूप में देखा। फिर भी मन नहीं माना तो कहा तू उर्जस्वती और पयस्वती है। इस प्रकार उन्होंने भूमि को, रसवती—जल से आसिक्त और वनस्पतियों से पूर्ण, बसने योग्य बना रखा था। पुराने पेड़ों, झाड़ियों, लताओं और घासों के नाम लेने से अब काम नहीं चलने का। पुराने नाम अब ग्रंथों में ही पड़े रहेंगे। नये नाम लातिनी हों या कि और कुछ, वनस्पति शास्त्र के पढ़ने वालों के पास तक ही रह गए हैं। इनमें से अधिकांश शास्त्री ऐसे हैं जो इनको पुराने नामों से उन्हें जोड़ तो लेते हैं पर जमीन पर इनकी पहचान नहीं करते। नतीजा यह हुआ है कि ज्ञान और कर्म में अंतर आ पड़ा है। जो हम जानते हैं उसे करते नहीं। वह केवल कहने के वास्ते रह गया है। पर पहले के लोगों ने जो देखा, जिसे अपने चारों ओर व्याप्त पाया, उसे ज्ञान का

कारण या कि सोपान बनाया। उसी के सहारे दृश्य जगत् का अपने जीवन के साथ तालमेल भी बिठाया, और उसी के माध्यम से वह, जो सामान्यतः नहीं दिखायी पड़ता, उसे भी जानने की कोशिश की।

वनस्पति का शाब्दिक अर्थ तो वनों का राजा हुआ। राजा ने अपना तादात्म्य उन सबसे जो उसकी प्रजा थी ऐसा किया कि प्रजा ही राजा के नाम से जानी जाने लगी। आज इसीलिए वनस्पतियां कहते ही उन सब प्रकार के वृक्षों, लताओं और घासों आदि का बोध होने लगता है जो वनों में उगती हैं। वनों में ही क्यों गांवों में भी, मार्गों पर, सब जगह। वनस्पतियों की कोटि का, पुराना भारतीय विभाजन रोचक लगता है। ओषधि, इसमें सभी प्रकार की जड़ी-बूटियां आ जाती हैं। अन्न, इसमें सभी प्रकार के खाद्यान्न आ जाते हैं, वीरुध इसमें सभी प्रकार के बड़े वृक्ष, दूर्वा और कुश। यहां भी देखने की बात है कि दूर्वा को यानी दूब को अन्य सभी घासों से अलग रखा गया। मूंज, वेतस और बांस कई प्रकार के मोटे विभाजन कर इन वनस्पतियों की प्रकृति को पहचानने की पूरी कोशिश की गयी थी। कुछ की प्रकृति आज तक नहीं जानी जा सकी। "आज का विज्ञान भी इस बात का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सका है कि बांस भीतर से खोखला क्यों होता है। क्यों बहुत से पौधों के कुछ भाग कई रंगों वाले होते हैं या कि क्यों कुछ पौधे लताओं के ही रूप में रह जाते हैं और कुछ बड़े वृक्षों का रूप धारण कर लेते हैं। आधुनिक विज्ञान भी क्यों ऐसा होता है, नहीं बता सका। कैसे ऐसा होता है इसकी छान-बीन से ही संतोष करना पड़ा है।"[1] शायद "क्यों" वैज्ञानिक प्रश्न नहीं है। "कैसे" विज्ञान के लिए जगह बनाता है अतः वैज्ञानिक प्रश्न माना गया हो।

इसी प्रकार वनस्पतियों की दो और कोटियां भी की गयीं। ग्राम्य और आरण्यक। ग्राम्य वनस्पतियों में वे सभी प्रकार की वनस्पतियां आ जाती हैं जिनके बीज जंगलों से पशुओं के खुरों द्वारा या पक्षियों द्वारा गांवों में लाये जाते हैं या चले आते हैं और स्वयमेव उग जाते हैं; और वे भी आती हैं जिन्हें मनुष्य अपने काम के लिए परिश्रम करके लगाता या उगाता है। इसमें सभी प्रकार के धान्य अर्थात् खाद्यान्न भी आ जाते हैं और फलदार वृक्ष और दवाओं के काम आने वाले पौधे भी। इन्हीं के सहारे वह अपने ग्राम्य पशुओं को भी पालते थे। आर्य जाति ने खेती और पशुपालन का काम प्रारंभ किया था। भारत ने ही अन्न उत्पादन की प्रक्रिया में रोपण की विधि सारे विश्व को दी थी। यह भारतीय कृषक की अपनी ईजाद है। इसी के साथ हल बैल और पहिया और घोड़ा भी। चक्र उद्योग का प्रतीक भी बना और भारत में उसका विशेष ऐतिहासिक महत्त्व भी है। इस प्रकार खेती और वानिकी की बड़ी सुलझी और समझदारी की साझेदारी प्राचीन भारतीयों ने अपने सुख और स्वास्थ्य के लिए की। दोनों को एक दूसरे के साथ और एक दूसरे पर निर्भर करते हुए उसे देखा और उसके महत्त्व को जब तक समझते रहे तब तक उन पशुओं की आबादी को नियंत्रित करते रहे जो ग्राम्य

1. डा० सत्य प्रकाश

पशु थे, और उसको भी जो ग्राम्य पशुओं को हानि पहुंचा सकते थे। मनुष्य ने अपने को भी ग्राम्य पशु माना था। आर्य जाति के ग्रंथों में मनुष्य को भी ग्राम्य पशु कहा गया है।

वन्य वनस्पतियों और ग्राम्य वनस्पतियों में और पशुओं में एक सामाजिक रिश्ता कायम हुआ। इनकी सामाजिकता में ही वह पूरा मानव समाज उभरा जिसने ज्ञान-विज्ञान के सोपान को उच्चतम स्थान दिया। पुराने ग्रंथों में विशेषकर ब्राह्मण ग्रथों में कई जगह वृक्षों की रचना को समझने और उनके महत्त्व को जानने के लिए उनकी व्याख्या मनुष्य की शरीर-रचना के साथ की गयी थी। सब वृक्षों के साथ ऐसा संभव नहीं हुआ पर जहां हुआ है वहां मनुष्य ने उन्हें अपने रूप में देखा है। ऐसा करते हुए वनस्पतियों को मानव समाज में बड़ा ऊंचा स्थान मिला। उनमें कई प्रकार के वृक्ष पूजनीय हो गये, उनको काटना पापकर्म माना गया, और उनके द्वारा न केवल शारीरिक व्याधियों का उपचार होता था वरन् उन्हें आध्यात्मिक स्थान भी दिया गया। इसी क्रम में कुछ घासों को भी महत्त्व मिला जिनमें दूर्वा, कुश और मूंज विशेष रूप से महत्ता पा गए।

दूर्वा आगे चलकर श्री और समृद्धि का प्रतीक बन गयी और भारतीय समाज की आज कोई भी पूजा, उसका कोई यज्ञ, उसका कोई संस्कार ऐसा नहीं है जो दूर्वा के बिना सम्पन्न होता हो। इतना अंतर अवश्य पड़ा है कि श्री और समृद्धि की प्रतीक दूर्वा अर्थात दूब जो कभी हर आंखों द्वारा जानी-पहचानी जाती थी, जो हर घर, गांव-पथ और विजन की कोमल मुस्कान थी, वह संकुचित होकर कुछ स्थानों में ही फल-फूल रही है। आज घास के फूलों से बिछी हुई धरती की सेज कहीं-कहीं ही दिखाई पड़ती है। कभी सोम के न मिलने पर अरुण दूर्वा अन्यथा हरित कुश की खोज होती थी। दूसरे शब्दों में कहें तो सोम के बाद अरुण दूर्वा का ही स्थान था। लाल और हरी दूब ओषधि थी। मनुष्य उसे ओषधि के रूप में भी अपनाते थे। पशु उसे खाते भी थे और उसके गुणयुक्त आहार से स्वस्थ भी रहते थे। जो कभी अमीर-गरीब का भेद किये बिना जन जन के घरों की शोभा बढ़ाती थी वही आज केवल कुछ श्रीमानों के ही पदतल को सुख और सुषमा प्रदान कर रही है। आज अच्छी दूब, और अब दूब की अनेक किस्में पैदा कर ली गयी हैं, कुछ बहुत ही समृद्ध घरों में ही उग रही है और उनकी देखरेख भी प्रभूत धन की अपेक्षा कर रहा है। इस दृष्टि से भी यह श्री और समृद्धि का प्रतीक आज भी बनी हुई है। उस श्री और समृद्धि का, जो आम आदमी से छिन कर कुछेक के हाथों में बंधी छटपटा रही है।

आज के इस जन संकुल देश में, औद्योगिक और तकनीकी प्रगति से आक्रांत सभ्यता और संकृति के बदलाव की चपेट खाकर भी, यदि यह कहीं पड़ी रह जाये और सुरक्षित रह सके तो इसे ही कुशल मानना चाहिए। विकसित देशों में इसकी रक्षा के लिए कई प्रकार के प्रयत्न हो रहे हैं। इसकी रक्षा के अर्थ में उन सब प्रयत्नों को शामिल करना चाहिए जो वनस्पति मात्र की रक्षा के लिए किये जा रहे हैं। उन देशों में बड़े-बड़े वनस्पति उद्यानों की स्थापना हुई है। अपने देश में भी उनकी अनुकृति की गयी

है। इंग्लैंड में आज भी सारी उपलब्ध जमीन के आधे से अधिक भाग हरी घासों और चरागाहों से आच्छादित हैं। इसके अतिरिक्त गोल्फ और दूसरे खेल के मैदानों तथा निजी घरों में अच्छी घास की चादर बिछी हुई है। पर अपने देश में आंजन लगाने के लिए भी हरी घास मिलना कुछ ही दिनों में मुश्किल हो जायेगा। खेल और खिलाड़ियों, खेल के मैदानों, और स्वस्थ खुला जीवन व्यतीत करने से इस देश की सरकारों को और यहां के निवासियों को विरक्ति होती जा रही है। ऐसे खेल जिनमें साहस, दिलेरी और वन्य जीवन और वन्य जीवों से मुठभेड़ होने की संभावनाएं रहती थीं इस देश से वैसे ही गायब हो गये या होते जा रहे हैं जैसे यहां की प्राचीन वनस्पतियां और पशु।

भारतीय वृक्षों में अर्क, अपामार्ग, उदम्बर, कार्ष्मर्य आदि को लोग बिल्कुल भूल गये हैं। अश्वत्थ आज भी जाना माना जा रहा है। आश्ववाल भुला दी गयी है। उदम्बर वनस्पति शास्त्र की पुस्तकों और उद्यानों में फाइकस ग्लोमेराटा के नाम से जाना जा रहा है। कार्ष्मर्य या गम्भार गुरेलिमा आरबोरिया में अपना जीवन सुरक्षित रखे हुए है। कुश जरूर घर-घर में, विशेष कर पितृपक्ष में, या ग्रहण लगने पर दिखाई पड़ता है। पर यदि घर आधुनिक शिक्षा से मंडित हुआ तो वहां नहीं दिखाई पड़ेगा। उस घर के बालक और स्त्रियां कुश की पहचान खो चुकी हैं। खदिर यानी खैर के जंगल गायब हो गये। पलाश जरूर अपनी ज़िद से डटा हुआ है। जब तक भारत में पंक्ति भोज पत्तल पुरवे के सहारे होता रहेगा पलाश की तलाश बनी रहेगी। शमी की अब पूजा नहीं होती। पितुदारु को लोग देवदार के रूप में ही देख रहे हैं बिल्व बना हुआ है। शंकरोपासक बिल्व पत्र की रक्षा करेंगे कि नहीं कहा नहीं जा सकता। प्लक्ष फाइकस इन्फेक्टोरिया और धव के वृक्ष यत्र-तत्र जंगलों में दिखाई पड़ जाते हैं। एक और पुराने वृक्ष फाल्गुन का नाम ही नाम रह गया है। उसकी कोई पहचान बाकी नहीं है। किंतु उसे सोम के सदृश कहा गया है। इसकी दो किस्में थीं : एक में लाल फूल आते थे और दूसरे में भूरे। यह जंगली वृक्ष था और श्येन पक्षी द्वारा इसके बीज एक जगह से दूसरी जगह पहुंचते रहते थे। संभवतः श्येन का यह प्रिय खाद्य रहा हो। सोम के न मिलने पर इससे काम चलाया जाता था। इसके न मिलने पर आदार और आदार भी न मिले तो फिर दूर्वा ही काम में लायी जाती थी। कभी-कभी उसे फल्गु यानी अंजीर से समीकृत कर भ्रम उत्पन्न किया जाता है।

ये सब वृक्ष हमारे प्राचीन जंगलों की शोभा और महत्त्व बढ़ाते रहते थे। कुछ तो केवल पहाड़ों में ही होते थे और कुछ मैदानी इलाकों में। पर कुल मिलाकर भारतीय धरती पादपों, गुलगों, दूर्वाओं से सदा शीतल और अतप्त रहती थी। जहां ये नहीं होते थे वहां हमारे आज के अन्नों के आदिम रूप व्रीहि (चावल के पौधे), यव, मास, तिल, मुद्ग (किडनी बीन्स), खल्व, प्रियङ्ग, अणु, श्यामक और नीवारादि का वन्य रूप भी और उनकी कृषि भी धरती को घेरे रहती थी। इनमें से कुछ वृक्ष अपनी पवित्रता अथवा अन्य किसी गुण के कारण कई प्रकार के देवों के नाम से भी अनिवार्यतः सम्पृक्त हो गये थे। जैसे प्लाशुकानां सत्यप्रवसाय, अशूनामग्नये वृहस्पतये,

श्यामका: सोमाय वनस्पतये, नैवारो वृहस्पतये वाचे आदि। प्लाशुक सावित्री से, अशू गृहपति अग्नि से, श्यामाक सोम वनस्पति से, नैवार वृहस्पति वाक से। इन वृक्षों से वने छत्रप के नीचे कई प्रकार की घासें उगा करती थीं। मूंज, भूमिपाश और कुश आदि को छोड़कर अन्य सब शायद दूर्वा के ही अवांतर भेद थे। इन संदर्भों में भारत भूमि को स्मरण करने पर उसके "शस्य श्यामल" रूप की कल्पना सहज ही साकार हो उठती है।

प्राचीन काल में दूब के महत्त्व को कई प्रकार से स्वीकार किया गया। कहा गया कि "दूर्वा क्षत्र या रक्षक है। यह प्राण है, रस है। अन्य ओषधियां लोम हैं। दूर्वा को रखकर मानो सभी ओषधियों को रख देता है।"[1] दूब जैसे सभी वनस्पतियों का प्रतीक बनी, श्री और समृद्धि का प्रतीक बनी, उसी प्रकार सब ओषधियों का प्रतीक बनकर सुख स्वास्थ्य प्रदान करने वाली भी हुई। जहां घास वृक्ष और झाड़ियां एक साथ रहती हैं वहां की धरती संगीतमय हो उठती है। प्राकृति का स्वर नाना रूपों में सुनाई पड़ता है क्योंकि भांति-भांति के पक्षी और स्तनपोषी तथा दूसरे प्रकार के भी पशु विचरण करते हैं। ऐसा भूखंड उनका ओकस स्थायी रूप से भी और वैसे भी प्रकृत वासस्थान बनता है। घासें पक्षियों को कई प्रकार के कीट पतंग भोजन के लिए देती हैं। उनके नीचे कुछ ऐसे भी कीट निवास करते हैं जो भूमि को बराबर उर्वरा बनाये रखते हैं। ऐसी भूमि अच्छी चारागाह होती है। तब गाय और भेड़ें अपना भोजन पाती हैं। दूसरे जीव भी अपना अपना भोजन पाते हैं। प्राचीन ग्रंथों में कहा गया कि "जीवन देने वाली भूमि को उठाकर" "जिसको स्वधाओं के साथ चंद्रलोक ले गये" "बुद्धिमान लोग अब भी इसी भूमि का अनुदेश करके यज्ञ करते हैं।"[2] यज्ञ में आहुतियां होती हैं। ऐसा प्राय: बहुतों ने देखा होगा। यज्ञ में दूध की भी आहुति दी जाती है ऐसा कई प्रकार के यज्ञों में होता है। दूध की आहुति वायु के लिए होती है। क्योंकि वायु ही बादलों को ले आता है। उसी के कारण वर्षा होती है। जब वर्षा होती है तब ओषधि होती है। "ओषधि खाकर और जल पीकर ही तो जल में से दूध होता है। इसलिए वायु से ही दूध होता है, इसलिए वायु के लिए आहुति देता है।"[3] दूसरे शब्दों में कहा जाये या कि वास्तविकता देखी जाये तो ओषधियां दूध का कारण हैं। दूध का महत्त्व जीवन के प्रारंभ से ही है। बच्चा पैदा होते ही दूध पीता है। मां का दूध पीता है फिर गाय का दूध पीता है। पर मां और गाय दोनों ही कुछ खाकर ही दूध पिलाने और देने की स्थिति में होती हैं। वह जो कुछ भी खाती हैं वह ओषधि ही तो है। अन्न भी ओषधि है। घास भी ओषधि है। बनस्पतियां भी ओषधि हैं। ये सब जल से होती हैं और ये सब जल का कारण भी बनती हैं।

---

1. 7-4-2-12 श० ब्रा०,
2. 1-2-5-19 श० ब्रा०
1. 2-5-3-7 श० ब्रा०

दूध की बात उठने पर और इसका रिश्ता किस प्रकार वनस्पतियों से और वनस्पतियों का पानी से और पानी का पर्यावरण के संतुलन से जुड़ा है इसको स्पष्ट करने वाली एक कहानी है। कहानी इस उद्देश्य से नहीं कही गयी थी। पर जिस प्रकार कही गयी वह इस रिश्ते को इतने साफ और मोहक रूप में बताती है कि उसे बार-बार कहने-सुनने को जी चाहता है। इस कहानी को मैंने कई बार कई जगह कहा है। आज यहां फिर कह रहा हूं। यह कहानी इतालवी कवि ग्रामिशी ने अपनी बहन को लिखे गये पत्रों में कही है। कहानी इस प्रकार है। एक कमरे में मां अपने बच्चे को सुलाकर चली गयी थी। वहीं कटोरी में दूध भी रख दिया था। सोचा था कि जब बच्चा सोकर उठेगा और भूख लगी होगी तो उसको इस दूध को पिलाऊंगी। इसी बीच उस कमरे में एक बिल्ली आ गयी। बिल्ली दूध पीना चाहती थी। पर उस कमरे में पहले से ही एक चूहा बैठा था। वह भी उसी दूध की ताक में था। जब चूहे ने देखा कि बिल्ली तो अब दूध पी जायेगी तो उसने एक चाल चली। वह कूद कर बिल्ली के सामने से निकला। जानता था कि मांस भक्षिणी मुझे देखते ही दूध छोड़कर मुझ पर झपटेगी। उसने अपने बचने का रास्ता पहले से ही देख रखा था। बिल्ली के झपटते ही वह उसी रास्ते बाहर निकल गया। बिल्ली बाहर कूदी और उसे ढूंढने लगी। वह उसी रास्ते पुनः भीतर आ गया और चुपचाप कटोरी का दूध पीकर छिप रहा।

जब बच्चा जगा तो भूख के मारे रोने लगा। मां दौड़ी आयी। पर कटोरी का दूध गायब था। अब क्या करें। घर में और दूध नहीं था। बच्चे को चुप कराने की कोशिश करती रही। बच्चा भूख में बिलखता रहा। चूहे से यह देखा न गया। उसके मन में ग्लानि हुई। उसे लगा कि वह तो कुछ और भी खा सकता था। बच्चे का दूध पीकर उसने अच्छा नहीं किया। अब क्या करें? सोचा चल कर गाय से दूध मांग लाऊं और लाकर बच्चे की मां को दे दूं। वह बच्चे को पिला कर खुश होगी। बच्चा भी खुश होगा।

वह गाय के पास गया। गाय से उसने सारी कथा और अपनी व्यथा बतायी। गाय को तरस तो बहुत आया पर गाय के पास दूध नहीं था। उसने कहा कि मैं तुम्हें दूध कहां से दूं। मुझे खाने के लिए हरी घास अब नहीं मिलती। इसलिए मेरा दूध जल्दी सूख जाता है। अगर तुम मुझे कहीं से हरी घास लाकर दो तो मैं तुम्हें दूध दे सकूंगी।

चूहा बहुत दुखी हुआ। मन मार कर घास के मैदान में गया। वहां कुछ सूखी दूबें पानी के लिए तरस रही थीं। उसने घास से कहा कि तुम गाय के लिए भोजन बनो क्योंकि गाय के पास दूध नहीं। उसके दूध न देने से बच्चे को दूध नहीं मिल रहा है। वह भूख से तड़प रहा है। घास ने कहा कि मैं तो हमेशा ही गाय के लिए चारा बनती रही हूं। पर क्या करूं अब नदी पानी नहीं देती। पानी बिना न तो मैं हरी होती हूं न पनप पाती हूं। तुम नदी से पानी लाकर मुझे सींचो। मैं हरी होऊं। गाय को बुलाओ, वह चरे और दूध दे।

चूहा और खिन्न हुआ। वह दौड़ता हुआ नदी के पास गया। नदी से सारी कहानी शुरू से सुनायी और पानी मांगा। पर नदी भी लाचार थी। उसने कहा मैं पानी कहां से दूं। मुझे पहले पहाड़ों से पानी मिलता था। अब पहाड़ पानी नहीं देते और देते भी हैं तो असमय देते हैं। कभी इतना देते हैं कि सैलाब आ जाता है। जो कुछ मैंने सींचा भी होता है वह सब नष्ट हो जाता है। मैं क्या करूं ?

चूहा गिरे मन से भागता हुआ पहाड़ के पास गया। पहाड़ को भी अपनी राम कहानी सुनायी और पानी की मांग की। किंतु पहाड़ ने कहा मैं पानी कहां से दूं। अब पानी पर नियंत्रण नहीं। पानी तो समय से तब बरसता था जब मेरे ऊपर पेड़ों की घनी छाया रहती थी। अच्छी बयार बहती रहती थी। मिट्टी पर, जो मेरी पीठ की चमड़ी का काम करती है, हरी हरी घासें होती थीं। तब पानी समय से बरसता था और निर्मल रूप से बिना मिट्टी लिये नदी में जाता था। अब तो आदमियों ने सारे जंगल काट डाले। हमारी पीठ की छाया और चमड़ी दोनों छीन ली। नंगी पीठ पर पानी की मार पड़ती है तो मिट्टी की चमड़ी भी उधड़ कर उसी के साथ बह जाती है। हम तो खुद ही छीजते जा रहे हैं। मैं क्या करूं ? कहां से पानी लाऊं ?

अब तक चूहा बहुत दुखी और थक गया था। अब यह सुनकर उसे गुस्सा भी आ गया। वह दौड़ा हुआ आदमी के पास गया और उसकी सारी करतूत सुनायी। उसने आदमी को खूब लताड़ सुनायी। उसने कहा तुम स्वयं अपने वंशजों का नाश करने पर तुले हो। तुम्हारी मदद सब करना चाहते हैं पर तुम हो कि अपने बच्चे के लिए दूध का स्रोत ही बन्द कर देने पर तुले हो। मालूम नहीं चूहे की डांट खाकर आदमी को शर्म आयी कि नहीं पर चूहा अपने प्रयत्नों से पूरा संतुष्ट था। उसके मन में मदद न कर सकने का दुख तो था पर सच्चे मन से वह प्रयत्न और पश्चात्ताप करके संतुष्ट था कि वह जो कुछ कर सकता उसने किया। उसने फिर बच्चे का दूध न पीने का संकल्प लिया। पर आज भी उसके संकल्प के बावजूद बच्चों को भरपूर दूध नहीं मिल रहा है।

यह कहानी बहुत कुछ बताती है। आदमी और पशुओं की, आदमी और वनस्पतियों की, आदमी वनस्पति और पशुओं की साझेदारी को स्पष्ट करती है। काश कि हम इससे सीख ले सकें और दूब और पानी के रिश्ते को कायम रखने के लिए अपनी साझेदारी और जिम्मेदारी को निभा सकें।

प्राकृतिक परिवेश की रक्षा

प्राकृतिक परिवेश की रक्षा वस्तुतः शाश्वत मानवीय मूल्यों की रक्षा का प्रश्न है। आजकल पर्यावरण का जिक्र जिस संदर्भ में हो रहा है उसमें प्रायः लोग यह भूल गये हैं कि भारत एक ऐसा देश था जहां पर्यावरण की समस्या प्रायः थी ही नहीं। आबादी कम थी, चारों ओर हरे-भरे खेत, फलदार वृक्ष, घने जंगल, उनमें चहकते पक्षी, विहरते पशु, सबने मिलकर इस देश को देवलोक से भी अनुपम बना रखा था। यहां के कवि इस देश की प्राकृतिक सुषमा का वयान करते-करते थक तो जाते थे लेकिन अघाते नहीं थे। भारतीय साहित्य ऐसे वर्णनों से भरा पूरा है। साहित्य में उनके संश्लिष्ट चित्रों से भी इस वात का एहसास नहीं होता था कि इन वर्णनों में पर्यावरण की वात भी उठायी जा रही है। नदियों का वर्णन करते हुए कवियों ने लिखा है कि उनके दोनों किनारे घने झुरमुटों, हरे-हरे पेड़ों और नदी किनारे उगने वाली वनस्पतियों से इस कदर भरे रहते थे कि उनकी छाया से किनारे का पानी हमेशा नीला दिखाई देता था। इस परिवेश में रहने वाले पशु-पक्षियों के नाम भी उन्होंने गिनाये हैं। उन पक्षियों से भी हमारा परिचय कराया है जो इन वृक्षों पर वसेरा लेते हुए भी हमारे घरों में आकर अपनी मोहक वोलियों से हमारा जीवन सुखमय वनाते रहते थे। उन जानवरों का भी जिक्र हुआ है जो जंगलों में रहकर भी हमारे लिए कई प्रकार से उपयोगी हुआ करते थे।

आज उसी देश में पर्यावरण की वात करते हुए हमें नदियों के वीरान किनारे, सूखे ताल और तलैया, गंदे नाले, वृक्षहीन रास्ते, घिसती जमीन, मिनकते वच्चे और सूना जीवन ही दिखायी पड़ता है। फिर भी हमारा पर्यावरण जवकि वहुत कमजोर, नीरस और वहुत हद तक गंदा हो चुका है, कई मामलों में उतना घातक नहीं हो पाया है जितना कि उन देशों में हो चला है जो अपने औद्योगिक विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुके हैं। यदि समय रहते हम चेत जायें तो वहुत कम खर्च और परिश्रम से तथा कम-से-कम समय में अपने पर्यावरण के सुधार के रास्ते अपना कर अपना जीवन भी सुधार सकते हैं और उसे अधिक सुखमय और समृद्ध भी वना सकते हैं।

सोचने की वात यह है कि यह पर्यावरण है क्या? जिस पृथिवी पर हम रहते हैं उसमें आदमी के साथ-साथ जानवर, पेड़-पौधे भी होते हैं। पहाड़ और जंगल भी होते

हैं, नदी नाले और तालाब भी होते हैं। कुछ छोटे कुछ बड़े और कुछ बहुत बड़े। यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि पृथिवी का आयतन या कि उसका क्षेत्रफल बढ़ाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में उस पर रहने वाले जीवों और वनस्पतियों का एक आपसी संबंध जरूर होगा। होना भी चाहिए और होता रहेगा। एक के अधिक बढ़ जाने पर दूसरे में कमी या दबाव का अनुभव होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहना पड़ेगा कि प्रकृति की ओर से पृथिवी पर उगने वाली इन वनस्पतियों और रहने वाले जीवों, जिनमें मनुष्य और पशु दोनों शामिल हैं, एक अनुपात माना गया है। इसको प्रकृति लिखकर तो नहीं दे सकती पर उन जीवों को जिन्हें बुद्धि का वैभव मिला है उन्हें ही खोजना पड़ेगा और समझाना पड़ेगा। बिना इसके समझे या तो आबादी इतनी बढ़ जायेगी कि वनस्पतियों का लोप हो जायेगा, जैसा कि आज हुआ है और होता जा रहा है, या कि फिर कोई ऐसी महामारी आ सकती है जिसके कारण मनुष्यों और दूसरे जीवों का ही लोप हो सकता है। सारी पृथिवी कुछ ऐसे जीवों और पेड़-पौधों को लिए इस प्रकार बच जायेगी कि जिसका उपभोग करने के लिए कोई नहीं रहेगा। ये दोनों ही रास्ते खतरनाक हैं।

अभी जो यह बात कही गयी है कि जीवों और वनस्पतियों में एक प्राकृतिक अनुपात है अतः कहा जाय तो उसको ही बनाये रखने का नाम ही पर्यावरण का संतुलन माना जा सकता है। किंतु यह कहने में आसान लगता है लेकिन करने में बहुत कठिन है और समझने में भी उतना आसान नहीं है। इसलिए इसको भी विस्तार से समझने की जरूरत है। सामान्य पशुओं और वनस्पतियों के साथ-साथ जीव-जगत में बहुत से ऐसे कीट पतंग और कीटाणु भी होते हैं, जिनमें से कुछ को हम देखते हैं, कुछ को नहीं देखते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जिनकी आवश्यकता समझ में आती है और कुछ वैसे भी होते हैं जिनकी आवश्यकता बड़ी माथापच्ची करने के बाद भी समझ में नहीं आती। कुछ कीटाणु रोगनाशक होते हैं पर बहुत से ऐसे भी होते हैं जिनके कारण भयानक रोगों का उत्पात मचा रहता है। इन सबके जीवन का संबंध पृथिवी के उस धरातल से भी है जिस पर मनुष्य जाति रहती है और उनसे भी है जो पृथिवी के धरातल से ऊपर हैं जिसमें मनुष्य बिल्कुल नहीं रहते या कि कभी-कभी जाते हैं। मौसम का बदलना, जिसे हमारे यहां ऋतु कहा गया है बहुत कुछ वनस्पतियों की कमी या अधिकता पर आधारित माना गया है। वनस्पतियों की कमी या अधिकता से हमारी मिट्टी की बनावट भी बनती बिगड़ती रहती है और इसीलिए वह कहीं कम उपजाऊ और अधिक उपजाऊ होती है। सूर्य और चंद्रमा निरंतर अपने समय से उदय और अस्त होते प्रतीत होते हैं। सृष्टि रचना के अनुसार उनकी गर्मी और शीतलता हमें मिलती रहती है। लेकिन वनस्पतियों की अधिकता या कमी से हम अक्सर सूर्य की आंच से ज्यादा या कि कम तपते हैं और मौसम के बदलाव से अथवा एक किस्म के मौसम के अधिक खिंच जाने से अधिक गर्मी अधिक ठंडक या अधिक वर्षा का अनुभव करते हैं। कभी-कभी इनके विपरीत भी होता है। अब अगर इन सबको मिलाकर जीवन की परिस्थितियों को देखें तो यह भी

पर्यावरण की परिभाषा में आता है और इससे पर्यावरण की व्यापकता का पता चलता है। इसी परिस्थितिपरक विज्ञान को पारिस्थितिकी भी कहते हैं।

इसी को उलट कर कहें तो यह कहना पड़ेगा कि पर्यावरण के बाहर जीव जगत नहीं होता है। पर इतना कहने से भी बात साफ नहीं होती। क्योंकि जीव जगत और पर्यावरण जिसमें कि जीव जगत रहता है, पृथिवी की उस ऊपरी सतह से संबंध रखता है, जिसे हिंदी में कहें तो जीव मंडल कह सकते हैं और जिसे अंग्रेजी में बायोस्फेयर कहते हैं। इसमें कुछ ऐसी गुत्थियां भी हैं कि जिन्हें समझने में और जिनका विश्लेषण करने में वैज्ञानिकों को भी कठिनाई पड़ती है। लेकिन इससे हताश होने की जरूरत नहीं है। आम आदमी की जिंदगी आमतौर पर आंखों देखी, कानों सुनी और भोगे हुए सुख-दुख की अनुभूतियों से बनी होती है। अगर हम इस आधार पर भी कुछ उन जरूरी बातों की ओर ध्यान दें कि जिनके कारण जीव जगत और निर्जीव जगत का अंतर साफ दिखाई देता है, तो यह बात बिल्कुल साफ सामने उभर कर आती है कि साधारणतः जीव जगत नष्ट होने के बाद फिर उत्पन्न होता है और प्रायः उसी रूप में उत्पन्न होता रहता है। इसी प्रकार जीव जगत की एक और विशेषता समझ में आती है कि वह या तो पृथिवी पर रहता है या पानी में। कुछ ऐसे जीव भी हैं जो अपना बहुत सारा समय हवा में उड़ते रहकर गुजार देते हैं लेकिन ऐसा नहीं होता कि वह केवल हवा में ही रहते हैं। अतः पृथिवी प्रधान हुई। पृथिवी पर रहने वाले प्राणियों का जीवन जिन कारणों से संभव होता है उनमें ऊर्जा—विशेषकर सूर्य से मिलने वाली ऊर्जा—का अत्यधिक महत्त्व है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि जिस कोटि को हम निर्जीव जगत में शामिल करते हैं उन्हें पृथिवी का आधार और ऊर्जा की आवश्यकता नहीं होती। वे भी, कम से कम उनकी अधिकांश कोटियां, ऐसी हैं जो पुनर्जन्म, भी हैं और स्वयंजात भी। पर यदि उन्हें मनुष्य पृथिवी का आधार ही न दे तो वे कहां जायेंगी। इनमें पौधों और पशुओं की एक बड़ी किस्म ऐसी है कि जिनके जीवन का मूलाधार स्वच्छ और खारा दोनों ही किस्म का पानी होता है। इन सब दृष्टियों से देखने से पता चलता है कि पर्यावरण शब्द के दायरे में वे बहुत से विषय आ जाते हैं जिनका जीव जगत के रहन-सहन, स्वास्थ्य और आर्थिक उन्नति से संबंध है।

इधर कुछ दिनों से इस विषय ने बहुत महत्त्व धारण कर लिया है और पढ़ा-लिखा आदमी न केवल इनके बारे में बातचीत करने लगा है बल्कि उनमें से बहुत से लोग चिंतित भी हो रहे हैं और इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार भी कर रहे हैं। कई देशों में तो यह घर-घर का चर्चित विषय हो गया है, यहां तक कि आर्थिक उन्नति, औद्योगिक विकास और जीवन स्तर को उन्नत करने जैसी समस्याओं पर विचार करते समय भी इसका चर्चा होता है। कुछ लोगों में भ्रांत धारणाएं भी बनने लगी हैं। ऐसे बहुत से लोग मिलते हैं जो प्रदूषण और पर्यावरण में स्पष्ट भेद नहीं कर पाते। लेकिन जो लोग इन विषयों के जानकार हैं वे यह मानते हैं कि इंसान की बढ़ती हुई आबादी और प्रकृति की देन में, चाहे वह वनस्पति के रूप में हो या खनिज पदार्थ के रूप में, जो नैसर्गिक

अनुपात है उसके बिगड़ने से ही पर्यावरण का सीधा संबंध है और इसको बनाये रखने में ही मानव का भविष्य सुरक्षित है।

अभी तक जो कुछ भी लिखा गया उससे आम आदमी की जिंदगी में पर्यावरण के महत्त्व को समझने की चेष्टा की गयी है। बढ़ती हुई आबादी के कारण पर्यावरण में असंतुलन की ओर संकेत किया जा चुका है। आदमी की भूख को मिटाने का सीधा ज़रिया खेती में बढ़ती करने का है। खनिज पदार्थों की भी खपत बढ़ेगी। अधिक से अधिक जमीन जोत कर खाने लायक अन्न पैदा करना एक आम और सहज तरीका है। जोत में अधिक जमीन आने से फलदार पेड़ों और अन्य वनस्पतियों में तेजी से कमी होती जा रही है इसका भी जिक्र किया जाता है और इस बात की भी कहने की कोशिश की जाती है कि कुछ विशेष प्रकार के जानवर और पेड़ पौधों के तेजी से नष्ट होने के कारण भी पर्यावरण का संतुलन मिटता जा रहा है।

बढ़ती हुई आबादी को रोज़गार चाहिए क्योंकि जमीन आदमी की हर ज़रूरत को पूरा नहीं कर सकती। बढ़ते हुए आधुनिक रोजगारों के फैलाव से पर्यावरण में प्रदूषण बढ़ रहा है यह भी बात कही जाती है। यातायात के साधन भी प्रदूषण को बढ़ाते हैं। ऊपरी तौर पर देखने से मालूम होता है कि आज जो कुछ भी हो रहा है वह सब प्रदूषण को बढ़ा रहा है, पर्यावरण को असंतुलित कर रहा है, और जीव मंडल को नष्ट कर रहा है। यह सही भी है क्योंकि इस विषय के इतने अधिक पहलू हैं और हर पहलू के जितने समाधान हैं उतनी समस्याएं भी। यह एक ऐसा विषय भी है कि जिस पर जानकार और सचेत व्यक्तियों का ही ध्यान जाता है और जिन लोगों का ध्यान गया है वह लोग बहुधा इस विषय के विशेषज्ञ के रूप में बहुत-सी ऐसी बातें कहते हैं जो या तो बहुत खर्चीले समाधान उपस्थित करती हैं या कि फिर आम आदमी की समझ के परे हो जाती हैं। लेकिन यह मानना भूल होगी कि पर्यावरण में बढ़ते हुए असंतुलन और प्रदूषण के कारण खतरे को समझने की क्षमता केवल उन्हीं लोगों में है, जो अपने को इसका विशेषज्ञ मानते हैं। आम आदमी भी इस खतरे को महसूस कर रहा है, पर विवश है, और उसकी विवशता भी अपनी नहीं है बल्कि उसके ऊपर वैसे ही लादी गयी है जैसे गरीबी। शायद कुछ थोड़े से ही लोग ऐसे होंगे जिनकी दिमागी हालत किन्हीं कारणों से इतनी विकसित नहीं हो सकी है जिसके कारण वह अपने हित और अहित की बात सोच नहीं पा रहे हैं अन्यथा कहा गया है—"हित अनहित पशु पक्षिहुं जाना"। कोई भी आदमी जानबूझकर गरीबी और गंदगी में नहीं रहना चाहता। आज हमारी गरीबी और गंदगी सदियों की पराधीनता की देन है। यह दुर्भाग्य की बात है कि विरासत में मिली हुई हुकूमत के तरीकों को अपनाने वाली नयी हुकूमत जान कर अनजान बन रही है और समाज की आर्थिक व्यवस्था के उस ढांचे को बनाये रखने में मददगार सिद्ध हो रही है जो गरीबी को कायम रखता है।

गरीबी की बात अभी छोड़ दी जाये क्योंकि बात पर्यावरण की है, उसके असंतुलन और प्रदूषण की है, और जिसको आम आदमी की समझ की शब्दावली में

गंदगी कहकर आगे बढ़ाया जा सकता है। यह आम आदमी ही है जो सारी दुनिया में तेजी से बढ़ता जा रहा है, फैलता जा रहा है। यह आम आदमी ही है जिसने खेती को अपना और दूसरों का सहारा बनाया और जिसके बढ़ते प्रकृति व्यवस्था में एक ऐसा असंतुलन आया जिसने वह भयावह स्थिति पैदा कर दी कि हर आदमी अपने जीवन के खतरे को सामने खड़ा देख रहा है। इसमें कोई शक नहीं कि खेती के सहारे बहुत बड़ी आबादी को संभाला जा सकता है। किंतु इसको भी भूलना नहीं चाहिए कि अगर खेती इसी रफ्तार से बढ़ती रही तो वह अपने को ही नहीं संभाल सकेगी। हमने समय रहते इस बात को नहीं पहचाना कि बढ़ती हुई आबादी को रोकने के लिए एक कारगर तरीका यह भी था कि हम पेड़ों और वनस्पतियों का भी सहारा वैसे ही लेते जैसे हमने खेती का लिया। आज अगर हम पेड़ों और वनस्पतियों के सहारे जीवित रहने के तरीके को पहचान पाते तो हमारी खेती भी अधिक उन्नत प्रकार की होती, कम जमीन से अधिक उपज देती और पशु पक्षियों के संग जीवन को सुखमय और स्वस्थ बनाये रखकर हम स्वयं भी स्वस्थ और सुखी होते और पर्यावरण भी संतुलित रहता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और पर्यावरण असंतुलित होता गया।

पर जमीन को खोदकर अन्न उपजाने का तरीका एक ऐसी सीधी और सरल परिपाटी है कि परंपरा से सबके समझ में आती रही है। यद्यपि यह परंपरा भारत की परंपरा का अविच्छिन्न रूप नहीं है। अधिक जमीन जोतकर अधिक अन्न उपजाना आमफहम बात हो, ज़रूर गयी, पर किसी ने नहीं सोचा कि यह तर्क केवल इंसान का तर्क है और इस तर्क को प्रकृति न तो समझती है और न यह उसका तर्क रहा है। इस तरीके के चलते हुए दुनिया के कई ऐसे देश हैं जिनका बड़ा नुकसान हुआ है। उन देशों में बड़े पैमाने पर ऐसी तहस-नहस हुई है कि जिसकी मिसाल खोजने पर भी नहीं मिलती।

पिछली शताब्दियों में पर्यावरण के नाश का इतना जमकर काम हुआ है कि प्रकृति को बाध्य होकर अपनी सामर्थ्य के बाहर खाद्यान्न पैदा करने की कोशिश करती रहनी पड़ी है। ऐसी हालत में उसका थक जाना बड़ा स्वाभाविक है। थकी हुई प्रकृति जिस प्रकार का अभिशाप दे सकती है उसकी मिसालें भी घट-बढ़कर दुनिया के प्रायः सभी सभ्य देशों में देखने को मिलने लगी हैं। दूर जाने की भी जरूरत नहीं है। अपने देश के ही कई ऐसे हिस्से हैं जहां इस प्रकार की बर्बादी देखी जा सकती है। उनमें उत्तर प्रदेश किसी से पीछे नहीं है। यहां पर्यावरण का संतुलन केवल गरीबी और अज्ञान ने ही नहीं बिगाड़ा वरन् शासन का भी इसमें बड़ा हाथ रहा है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जिस बेरहमी के साथ यहां के जंगल काटे गये उसकी स्मृति बहुतों को बनी हुई होगी। इसी पुस्तक में अन्यत्र उसका भी चर्चा हुआ है। आज स्वतंत्र और स्वायत्त-शासी होकर भी हम उसी में लगे हुए हैं। पेड़ों और वनों को काटने में संकोच नहीं किया जा रहा है। थोड़ी बहुत रोकथाम पहाड़ों में हुई है पर जमकर इस ओर सोचने और सोचकर काम करने की फुरसत अभी तक नहीं निकाली गयी।

हंसी तब आती है जब पर्यावरण असंतुलन की चिंता उनकी ओर से पहले

उठायी जाती है जो इसके नाश के कारण हैं और रहेंगे। मिसाल के तौर पर उन उद्योगों को चलाने वाले उद्योगपतियों की ओर पहले ध्यान जाता है जिनके द्वारा अपने उद्योग धंधों को संभालने और उनके जरिये पैसा कमाने के लिए बेशुमार पेड़ काटे जाते हैं। यह भी सही है कि उनके लिए पेड़ लगाये भी जाते हैं, पर वे मूलतः औद्योगिक वन होकर रह जाते हैं। यह भी सही है कि चटियल जमीन के बीच-बीच जगह-जगह हरे-भरे पेड़ खड़े हैं पर वे वस्तुतः वे वन नहीं बन पाते जिनके साथ वन्य जीवों का भी संतुलन बना रहता है। पर इस प्रसंग को यहीं छोड़ दें तो भी यह मानना पड़ेगा कि उद्योगों की जरूरत से अधिक पेड़ काटे जाते हैं। बहुमूल्य लकड़ी आवश्यकता से अधिक बरबाद होती है और वन अनुपाततः कम होते जाते हैं। जैसा ऊपर कहा गया इस प्रवृत्ति के कारण यह जरूरी नहीं कि जो पेड़ लगाये जाते हैं उनके साये और सहारे उन पशु-पक्षियों और मनुष्यों का जीवन चलता रहे जिनके स्वस्थ रहने से और जिनको मिलाकर ही जीव मंडल बनता है। मेरा स्पष्ट संकेत बड़े पैमाने पर लगे यूकिलिप्टस के वन खंडों से है। इसमें कोई शक नहीं कि दुनिया के बहुत से देशों में जिस प्रकार की औद्योगिक क्रांति हुई है उसने मनुष्य जाति को बहुत अधिक समृद्ध बनाया है। लेकिन यह बात भी उतनी ही सच है कि इस समृद्धि के चलते और बनते रहने पर भी दुनिया का एक बहुत बड़ा समाज दुखी और दरिद्र होता चला जा रहा है। जमीन इस कदर कमजोर और अनुपजाऊ बना दी गयी है कि उसने पूरे जीव मंडल को बिगाड़ दिया है।

बढ़ती हुई अन्न की उपज ने बहुत से देशों के रहने वालों को पूरी खुराक देने का दम भरा है। लेकिन इस सतही सत्य के पीछे जो राज है वह बहुतों के सामने स्पष्ट नहीं हो पाता। बावजूद इस उपज के अरबों मनुष्य ऐसे हैं जो गरीबी, दुख और शोषण की भंवर में पड़कर आर्त्तनाद कर रहे हैं। आश्चर्य तब होता है जब इतने बड़े समाज के सतत आर्त्तनाद और शोषण व्यवस्था के बावजूद शोषकों के कान में जूं तक नहीं रेंग पाती। पर्यावरण के असंतुलन का एक ही कारण अधिक जमीन पर खेती ही नहीं है। वनस्पतियों के नाश का अन्य सब कारणों में सबसे बड़ा कारण यह तो है, पर सभ्यता के विकास और संस्कृतियों में परिवर्तन का आधार जब से विज्ञान बन गया तब से जहां दुनिया छोटी हो गयी, जहां दुनिया की अवस्थिति और उत्पत्ति का कारण पहले की अपेक्षा अधिक समझ में आने लगा, जहां मानव समाज और उसकी एकता का आधार अधिक सरल हो गया, जहां एक दूसरे के सुख-दुख को सोचने-समझने और मिल बांटकर उठाने की हिम्मत और तमन्ना बढ़ी, वहीं जमीन का बहुत बड़ा हिस्सा [illegible] इमारतों और [illegible] संरचना के अंतर्गत आ गया। इस प्रकार पृथ्वी का [illegible] और इसी को लोकभाषा में कहें तो भू-भार इतना अधिक बढ़ गया [illegible] उत्पन्न हो गयी है उसका समाधान यदि मनुष्यों ने स्वयं न [illegible] पुरुष के आगे भी समस्या बन जायेगी। जब-जब [illegible] भू-भार बढ़ा है और [illegible] पर्यावरण के संतुलन को धक्का पहुंचा [illegible] हुआ और मानव जाति को नहीं [illegible]

की खराबी के गम में हजारों लोग मरे जा रहे हैं पर अपनी रफ्तार की तेजी में किसी को किसी की परवाह नहीं रह गयी है। सब अपने विनाश की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। यह क्रम तब तक जारी रहेगा जब तक हम पारंपरिक खेती को ही अपने जीवन का मूल आधार समझते रहेंगे। अन्न की आवश्यकता से किसी को इनकार नहीं पर खेती की वर्तमान प्रक्रिया में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है। जरूरत इतनी ही नहीं है कि रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं की सहायता से सघन खेती की जाये। जरूरत इस बात की है कि खेती के साथ अन्य वनस्पतियों की उपज की ओर भी ध्यान दिया जाये। प्रकृति ने ऐसी वनस्पतियां भी दी थीं, और उनका अभी पूरा लोप भी नहीं हुआ है, जो अन्न से अधिक शक्तिदायक, उपयोगी और स्वस्थ जीव-मंडल तथा पर्यावरण को बनाये रखने में मददगार होती हैं।

प्रसंगवश ऊपर सघन खेती और अधिक अन्न उपजाने के सिलसिले में कीटनाशक दवाओं और रासायनिक खादों का चर्चा हुआ। पर्यावरण के संदर्भ में इनकी भूमिका भी ध्यान देने योग्य है। यह देखने और समझने की बात है कि कीटनाशक ओषधियों और रासायनिक खादों का हमारे पर्यावरण और स्वयं हम पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। आज आधुनिक कृषि प्रणाली में कीटनाशकों के प्रयोग बढ़ रहे हैं लेकिन हम नहीं जानते कि इनके लाभ के साथ कितनी और कहां हानि हो रही है। कीटनाशकों और रासायनिक खादों के अत्यधिक प्रयोग से उत्पन्न अन्न स्वयं विषाक्त भी बन जाता है और उसके माध्यम से मनुष्यों के अंदर भी प्रवेश पाता है। ये पदार्थ हानिकारक भी हो सकते हैं इसकी ओर वैज्ञानिकों ने संकेत भी किया है। पर इसका कोई विकल्प नहीं बताया। इनके इस्तेमाल पर उतना ही प्रतिबन्ध है जितना सिगरेट के इस्तेमाल पर। हर सिगरेट की डिबिया पर लिखा रहता है कि यह स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। पर उन्हीं को बनाने वाली कंपनियां यह लिखकर भी उनकी बिक्री बढ़ाने के जितने मोहक प्रचार करती हैं वह किसी से छिपा नहीं है। इसी प्रकार कीटनाशकों और रसायनों की हजारों किस्मों की ईजाद जारी है और यह भी कहा जा रहा है कि यदि इनका इस्तेमाल कम हो गया तो कृषि उत्पादन बहुत गिर जायेगा।

पिछले कुछ वर्षों में कीटनाशक रसायनों के प्रयोग से फसलों को बचाया गया है, उनमें कीड़े नहीं लगे हैं और उनको रोग नहीं हुए हैं। पर यह भी आज अनुभव हो रहा है कि बावजूद इन प्रयोगों के फलों और फसलों को रोगों ने ग्रसित किया है। इधर कुछ समय से बहुधा यह देखने में आता है कि कुछ कीड़े रसायनों के प्रभाव को झेल जाते हैं और उन पर इनका कोई असर नहीं होता। कुछ के नाश के लिए इन्हीं दवाओं की अधिक मात्रा का इस्तेमाल जरूरी हो जाता है। इस "कीटनाशक प्रतिरोध" ने कृषि और सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र में कीटनाशकों के सफल प्रयोग को बहुत सीमित कर दिया है। अभी हाल में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम के अंतर्गत तैयार की गयी रपट में "कीटनाशक प्रतिरोध" पर प्रकाश डाला गया है। बताया गया है कि यदि कीटनाशकों का सावधानी से इस्तेमाल न किया गया तो इनके दीर्घकालीन दुष्प्रभाव हो सकते हैं।

व्यक्तियों, उपयोगी पशुओं, मछलियों व पक्षियों में बीमारी तथा मौतें हो सकती हैं और फसल बरबाद हो सकती है। यहां तक कहा गया है कि यदि इन्हें ठीक से इस्तेमाल में लाया जाये तो भी इनके दुष्प्रभावों से बचना मुश्किल है। कृषि पदार्थो से ये आदमी की खाद्य शृंखला में पहुंच जाते हैं। मछलियों, पक्षियों तथा अन्य जीवों में इनकी विषाक्तता बढ़ सकती है। कीटों के एक वर्ग पर कीटनाशकों के निरंतर प्रयोग से कुछ कीट ऐसे हो जाते हैं जो अधिसंख्य कीटों को मारने के लिए आवश्यक रसायन से भी ज्यादा रसायन जज्ब कर जाते हैं। इस "प्रतिरोधी प्रजाति" के सदस्य प्रजनन के द्वारा अपनी संख्या बढ़ाते हैं।

निरंतर अध्ययन और जांच पड़ताल के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है कि सभी कीट कीटनाशक दवाओं से प्रतिरोध की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं चाहे उनको इसमें समय लगे। इससे समझा जा सकता है कि कीट नियंत्रण कार्यक्रमों के कितने गंभीर प्रभाव पड़ सकते हैं। कीटनाशकों की प्रतिरोधी प्रजातियों का आनुवंशिक आधार समझ लिया गया है। यहां तक कि उस प्रक्रिया को भी समझा गया है जिससे यह प्रतिरोध क्षमता कीटों में आती है। उनमें उन एन्जाइमों का विकास भी शामिल है जो कीटनाशक दवाओं को विषविहीन बना देते हैं या कीट के अंदर इनके आक्रमण स्थल को बदल देते हैं।

कीटनाशक प्रतिरोध पर खाद्य व कृषि संगठन (एफ० ए० ओ०) की एक विशेषज्ञ समिति ने कीटों पर एक विश्व सर्वेक्षण किया। 1965 के प्रथम सर्वेक्षण में 189 प्रतिरोधी प्रजातियां बतायी गयीं। अब इनकी संख्या 400 तक पहुंच गयी है। एक आश्चर्यजनक तथ्य यह सामने आया है कि कपास और धान के कीटों में सबसे अधिक प्रतिरोध क्षमता आ गयी है। इसका सबसे बड़ा कारण यही हो सकता है कि इन फसलों के लिए निरंतर और दीर्घकाल तक कीटनाशकों का प्रयोग हो रहा है। इसी प्रकार विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू०एच०ओ०) ने 1976 में बताया था कि मलेरिया के कीटों में भी प्रतिरोधी प्रजातियां बढ़ गयी हैं। 1968 तक ही 15 मच्छर प्रजातियां डी०डी०टी० प्रतिरोधी हो गयी थीं।

गत दशक में चूहे तथा इनकी प्रजातियां भी विश्वव्यापी समस्या बन गयीं। ये कृषि तथा स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकर हैं। चूहे खेती ही नष्ट नहीं करते बल्कि गोदामों में रखे अनाज को भी क्षति पहुंचाते हैं। हाल के आंकड़ों से मालूम हुआ है कि चूहों की सात प्रजातियों पर रसायनों का कोई असर नहीं होता! कीटनाशकों का इतिहास भी बड़ा विचित्र है। जब वे बनाये गये थे तब यह सोचा भी नहीं गया था कि कीट इससे बच निकलेंगे। कुछ कीटनाशक तो बहुत ही जहरीले बनाये गये यहां तक कि इनका प्रयोग भी प्रयोगशालाओं में ही किया जाता है। लेकिन बाद के प्रयोगों से मालूम हुआ कि इनको भी कीटों ने बेअसर कर दिया। इन रसायनों से पर्यावरण को जो हानि पहुंची है या जिसके पहुंचने की आशंका बढ़ती जा रही है उसकी छानबीन इस हद तक नहीं की जा सकी है कि उनके इस्तेमाल का आदी बन गया किसान अपने आप

उनका विकल्प सोच सके या पा सके।

ऐसी स्थिति में नीति क्या होनी चाहिए? संयोग से कुछ वैकल्पिक तरीके निकल आये हैं, जिनमें सबसे व्यावहारिक तरीका कीटनाशक को ही बदलना है। कीट नियंत्रण कार्यक्रमों में इसे ही सबसे ठीक पाया गया है। कुछ बाधाएं जरूर आयी हैं। जैसे धन की कमी, परिस्थितियों की विभिन्नता, तथा पर्यावरण के प्रश्न उठे हैं। इन्हीं को ध्यान में रखकर यह भी सोचा जा रहा है कि यदि कीटनाशकों की जरूरत ही न पड़े या कम पड़े तो अनेक हानियों से कम खर्च और आसानी से बचा जा सकता है। इसके लिए कई विकल्प अपनाने पड़ेंगे जिनसे कीटों पर नियंत्रण किया जा सके। यह भी देखा गया है कि कीट नियंत्रण के लिए कीटनाशकों का प्रयोग अन्य पर्यावरणीय विधियों के साथ करना ठीक रहता है। एक ही विधि प्रभावकारी नहीं रहती। प्रतिरोध की समस्या का कोई एक हल नहीं हो सकता। हर मामले को अलग-अलग और अनेक दृष्टियों से देखना पड़ेगा।

अभी तक जो कुछ लिखा गया है उससे कुछ लोगों के मन में यह शंका उठ सकती है कि क्या खेती ही पर्यावरण को बिगाड़ने का एक मात्र कारण है? क्या केवल वन और वन्य वनस्पतियों के ही सहारे पर्यावरण बनाया रखा जा सकता है? दोनों ही बातें पूरी तरह सही नहीं हैं। पर सचाई दोनों में ही है। हम बराबर इसका चर्चा करते रहेंगे और कई ओर से सचाई को देखने की कोशिश करेंगे।

जब मनुष्य के पास खेती के साधन नहीं थे, जब वह खेती करना नहीं जानता था, तब भी वह अग्नि को जानता था, आग जलाने की विधि जानता था, और उसे आग की जरूरत पड़ती रहती थी। आदिम मनुष्य वनों में रहता हुआ आग से वनों को हानि पहुंचाता रहा होगा। उस समय जितना कुछ भी होता रहा होगा उससे वनों की स्थिति पर कुछ तो असर पड़ता ही रहा होगा। इसके भी प्रमाण मिले हैं कि पशुपालन की कला मनुष्य के पास खेती की कला से आयी होगी। यद्यपि पशुपालन भी खेती के समान ही प्राचीन धंधा रहा है पर इसके आधार पर यह कहना कठिन है कि पशुपालन से वनों की हानि पहले भी उतनी ही होती थी जितनी आज के पालतू कहे जाने वाले और पाले जाने वाले पशुओं से हो रही है। अतः आग, बेशुमार पशु, और मनुष्य की बढ़ती हुई आबादी, वनों के नाश के मूल कारण तो हो सकते हैं पर सब मिलकर और साझेदारी की समझ से वनों को बचा भी सकते हैं। इस प्रसंग में अन्यत्र बहुत कुछ कहा जा चुका है अतः दोहराने की आवश्यकता नहीं। यहां तो इतना ही कहना अलम् जान पड़ता है कि भारतीय संदर्भ में पर्यावरण की बात करते समय भारत के गांवों को, भारतीय कृषकों को, उनकी गरीबी और अशिक्षा को, उनकी खेती और उनके पशुओं के चारे की आवश्यकता को, उनके पेय जल की जरूरत को एक साथ ध्यान में रखे बिना उनसे पर्यावरण की बात करना बेमानी होगा। पर्यावरण और पारिस्थितिकी की तकनीकी शब्दावली में उनको बिना उलझाये अगर इन समस्याओं के समाधान की बात उनसे

की जा सके, अगर उनको समझाया जा सके कि उनकी गरीबी और उनके जीवन की अधिकांश जरूरतें, वन, वन-पशुओं, ग्राम और ग्राम पशुओं, वनस्पतियों और खेती तथा पानी की आपसी साझेदारी को समझकर सबका यथोचित विकास करने में है तो पर्यावरण की अवधारणा और उसका महत्व उन्हें अधिक स्पष्ट हो सकेगा। उनकी मूल समस्या गरीबी और अशिक्षा है। इसे दूर करने का उपाय उन्हींसे, उनके ही साधनों से करने का तरीका बता कर ही सफलता पायी जा सकती है।

वन खेती

आज की स्थिति में पारम्परिक खेती के सिलसिले में नये सिरे से पुनर्विचार की आवश्यकता जान पड़ती है। जिस प्रकार देश की आवादी बढ़ रही है, जिस प्रकार खेती की जमीन, सड़कों, भवनों, औद्योगिक प्रायोजनों में, यहां तक कि विकास की सभी विभिन्न योजनाओं में भी, खपती चली जा रही है उसके चलते यह चिंता का एक महत्वपूर्ण विषय वन गया है। लोगों को खाना तो चाहिए। अधिक आवादी के लिए अधिक अन्न की उपज सर्वथा आवश्यक प्रयोजन जान पड़ता है। इस वात में दूसरे देशों पर कदापि निर्भर नहीं रहा जा सकता। अतः आत्मनिर्भरता की वात भी उचित ही जान पड़ती है। पर यदि आवादी इतनी बढ़ जाये जितने कीआशंका साधार जान पड़ती है, तो उस आवादी के सर ढकने के लिए भी तो कुछ आवश्यक होगा ही। वह आवादी स्थिर और चुपचाप तो वैठी नहीं रहेगी। चलेगी। अतः सड़कें तो वनेंगी। जव उसके लिए खेती का काम वढ़ेगा तो खेती के लिए खेत और खेत के लिए पानी और उर्वरक भी आवश्यक होंगे। तव नहरें, नलकूप, विजली घर और कल कारखाने, सभी वनाने पड़ेंगे। इन सवके लिए जितनी जमीन की आवश्यकता होगी वह वनों को काटकर ही तो पूरी हो सकेगी। जव वन कटेंगे तो वर्षा पर असर पड़ेगा। वर्षा के असतुलन और अनिचश्य का असर खेती पर पड़ेगा। खेती के नष्ट होने पर अनाज कहां से आयेगा?

थोड़े में ही यह स्पष्ट हो रहा है कि हम एक ऐसे गोरख धंधे या कि वात्याचक्र में फंसते जा रहे हैं जहां से निस्तार आसान नहीं जान पड़ता। पर हाथ पर हाथ धर कर दैव के सहारे बैठा भी तो नहीं जा सकता। केवल "दैवं हि दैवमिति" कहने से तो काम नहीं चलेगा। तव यदि कुछ करना है तो क्या करना चाहिए इस पर अभी से और वरावर विचार करते रहना ही उचित है। यह भी जान लेना चाहिए कि किसी भी समस्या का एक ही समाधान नहीं होता। पर अन्य समाधानों के रहते किसी एक को तब तक नहीं छोड़ना चाहिए जव तक यह निश्चित न हो जाये कि अपनाया जाता हुआ समाधान छोड़े जाने वाले समाधान से होने वाले लाभ को भी समाहित किए हुए है और उससे अधिक भी लाभकर है। यही तर्क वन खेती का समाधान उपस्थित करते हुए ध्यान में रखा गया है। यह मानते हुए भी कि पारंपरिक खेती नाकाम होती जा रही है और आने वाली कठिनाइयों का हल प्रस्तुत करने में अक्षम भी रहेगी उसको सर्वशः

छोड़ देने की बात नहीं कही जा रही है। वन खेती पारंपरिक खेती का विकल्प नहीं है। वह उसका पूरक है और कम होती हुई जमीन पर वही साध्य है। अतः वन खेती की बात पर गंभीरता से विचार होना जरूरी है, विशेषकर पर्वतीय क्षेत्रों में जहां खेती के लिए—पारंपरिक खेती के लिए—पहले ही उपयुक्त जमीन नहीं थी।

अब यह वन खेती क्या है? हिमाचल प्रदेश में रहते हुए स्व० डा० परमार की प्रेरणा से और उनके प्रश्रय में यह प्रयोग चलाया गया और जब कुछ सफलता मिली तो उसे विकसित करने और व्यापक बनाने के लिए एक राज्य स्तरीय संस्था भी कायम की गयी जिसका नाम "हिमालय फारेस्ट फार्मिंग एण्ड एनवारमेंटल कंजर्वेशन सोसायटी" है। हिंदी में उसे "हिमालय वन खेती एवं पर्यावरण संरक्षण समाज" कह सकते हैं। वह अभी भी काम कर रही है यद्यपि उसमें अब वह तेजी और लगन नहीं रह गयी जो डा० परमार के जीवन काल में थी। बहरहाल, प्रश्न यही है कि यह वन खेती क्या है और इसे क्यों कर अपनाया जाये?

सबसे पहले रसेल स्मिथ ने सारे विश्व का ध्यान सन् 1929 में इस ओर आकृष्ट किया। उन्होंने जोर देकर कहा कि पारंपरिक बागवानी की जगह बड़े पमाने पर पेड़ों की खेती होनी चाहिए। ऐसे पेड़ों की जो मनुष्य और पशुओं दोनों के काम आने वाले हों। इस संबंध में उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी जिसका शीर्षक था "ट्री क्राप्स—ए परमानेंट ऐग्रीकल्चर"। हिंदी में उसका भावार्थ होगा "पेड़ों की फसल—एक स्थायी कृषि प्रक्रिया।" इस प्रकार का सुझाव उन्होंने अपने दीर्घकालीन अनुभव के आधार दिया था। उन्होंने पाया था कि एक ही प्रकार की भू-भौगोलिक स्थिति में रहने वाले लोग एक देश में सुखी और समृद्ध थे और दूसरे में निपट गरीब। ऐसा होने के कारणों की छानबीन करने पर पता चला था कि यद्यपि दोनों देशों की वे जगहें पहाड़ी थीं पर एक में लोगों ने पारंपरिक खेती की जगह ढालू पहाड़ियों पर चेस्टनट के (जिसे हिंदी में तोरजगा और कश्मीरी में बंखोर कहा गया है) बड़े-बड़े जंगलनुमा बाग लगाये थे तो दूसरी जगह उसी तरह के पहाड़ी भूभाग में पारंपरिक खेती की गयी थी। नतीजा यह हुआ था कि जहां पेड़ लगे थे वहां की तो पहाड़ी जमीन सुरक्षित थी, लोग खुशहाल थे और उन पेड़ों की फलियों के सहारे उनकी जीविका भी चलती थी; और जहां खेती होती थी वहां की पहाड़ी भूमि कट-कट कर बह गयी थी। पहाड़ नंगे दीखते थे। लोग गरीब थे पर्यावरण अत्यंत विकृत था। ऐसा उन्होंने एक नहीं अनेक देशों में देखा और फिर अपनी राय कायम की। आगे चलकर उन्होंने बहुत से दूसरे पेड़ भी पाये जो चेस्टनट की तरह उगाये जा सकते थे। यदि उन्हें कलमी बनाकर और सुनिश्चित ढंग से उगाया जाये तो ये मानव कृत वन, खेती के साथ उसका अंतर्भुक्त अंग बन सकते हैं। उनका यह विचार बहुत व्यापक हुआ और बहुत से लोगों का ध्यान इस ओर गया। किंतु रसेल की इस मान्यता का बड़े पैमाने पर प्रयोग केवल जापान में हुआ। वहां स्थानीय जलवायु और भू-भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए उनके अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर बड़ी तादाद में उन पहाड़ी ढालों पर यह प्रयोग आरंभ किया गया जिसकी सफलता पर

कर इतनी नाकाम हो गयी थी कि उस पर किसी किस्म की खेती बेकार सिद्ध हो रही थी। वहां के इस प्रयोग के मूल में किसानों की आर्थिक दशा सुधारने का उद्देश्य तो था ही, यह भी उद्देश्य था कि इस प्रकार पहाड़ के भूक्षरण को भी रोका जाये। भूक्षरण के रोकने का काम यदि केवल हर प्रकार के पेड़ उगाकर किया गया होता तो उससे किसानों का कोई तात्कालिक लाभ न होता और उनकी रुचि और सहयोग इस काम में न मिलता। वहां ऐसे पेड़ लगाये गये जो फलियों वाले होते थे और जिनकी पत्तियां चौड़ी होती थीं। ये पत्तियां और फलियां उनके जानवरों के खाने के काम में आने लगीं और बेचने पर उन्हें नकदी आमदनी भी हुई। जब ये पेड़ बढ़कर संपन्न और प्रौढ़ हो गये तो इनकी लकड़ी इमारती लकड़ी के काम भी आयी और इस प्रकार आर्थिक उन्नति का एक नया द्वारा खुला। इसी प्रयोग में यह पाया गया कि यदि इस प्रकार के पेड़ों को खेती और बागबानी के साथ-साथ पशुपालन को भी मिलाया जाये तो किसानों की आर्थिक उन्नति का एक नया आयाम बन सकता है। पर इस प्रयोग की जानकारी बाहर नहीं पहुंची। यह जापान में ही सीमित रहा और बाहर कुछ हद तक इसकी उपेक्षा भी हुई।

वास्तविकता यह थी कि रूढ़ियों में बंधे हुए जंगल विभागों के कार्यकर्ता किसी भी नये प्रयोग को नहीं करना चाहते। इस प्रयोग के साथ भी ऐसा ही हुआ। वन विभागों को यह सोचने में कठिनाई होती थी और आज भी हो रही है—कम से कम अपने देश में तो यही देखा जा रहा है—कि वनीकरण की मूल भावना सामाजिक जीवन को सुखी, समृद्ध और सुन्दर बनाना है। उसके द्वारा गरीब किसानों की आर्थिक उन्नति करना है, वह वंध्या जमीन को पुनः रजस्वला बना सकती है, खेतिहर किसान उससे आर्थिक लाभ उठाने के साथ-साथ अपनी ऊर्जा और इमारती जरूरतों को भी पूरा कर सकता है। बहरहाल द्वितीय महायुद्ध के दौरान तो दुनिया का संबंध ही जापान से एक प्रकार से विच्छिन्न हो गया था। पर सन् 46 के बाद एक बार पुनः इस प्रयोग की जानकारी प्राप्त करने का अवसर बाहर के वैज्ञानिकों और वन-विशेषज्ञों को मिला और उसी प्रकार के कई प्रयोग अन्य देशों में हुए। पर भारत ने इससे अपने को अछूता ही रखा। यहां जब वनीकरण के महत्व को समझा भी गया तो पुराने स्वयं-जात-वनों को काटकर नये वृक्षों के नये वन लगाये गये और उनका मुख्य उद्देश्य सरकारी राजस्व की वृद्धि करना हुआ। नये वन ने समाज से कट कर या यों कहें कि समाज को, विशेष-कर उनके चारों तरफ और उन्हीं वनों के सहारे रहने वाले किसानों को काटकर, उनको अपने से अलग रखकर, अपना विकास करना चाहा। नतीजा यह हुआ कि वनों का, वन्य प्राणियों का, और वन पर आधारित आर्थिक समृद्धि का, लाभ समाज को और देश को होने के बजाय कुछ उद्योगों और उद्योगपतियों को हुआ तथा उसका एक शतांश "खाये खर्चे जो बचे" के रूप में सरकारी राजस्व बना।

वन खेती इस प्रकार विभिन्न देशों में किये गये प्रयोगों और प्राप्त अनुभवों के आधार पर एक ऐसी वैज्ञानिक प्रकिया के रूप में सामने आयी जिसके द्वारा भूक्षरण

बचाया जा सकता है, पर्यावरण को संतुलित रखा जा सकता है, और उस जमीन की उपयोगिता बढ़ायी जा सकती है जो अन्यथा खेती के काम नहीं आने वाली है। वन खेती के तीन प्रमुख आयाम हैं। इन्हें समझने के पूर्व एक बार फिर याद रखना चाहिए कि इस काम के लिए उन्हीं पेड़ों का चुनाव करना पड़ता है जो अनुपजाऊ जमीन में भी आसानी से उग सकते हैं, जो अपनी पत्तियां और फलियां आदमियों और पशुओं को भोजन और चारे के रूप में दे सकते हैं, और जो जमीन की नमी को बजाय सोखने के बनाये रख सकते हैं। वन खेती के लिए जमीन की नमी का बना रहना इसलिए भी जरूरी होता है कि उसके सहारे वे सभी प्रकार की घासें आसानी से उग सकती हैं और उगायी जा सकती हैं जिनका भी उपयोग पशुओं के चारे के रूप में होना है। यह इसलिए बहुत महत्वपूर्ण है कि वन खेती में पेड़ों के साथ-साथ पशु उसके अंतर्भुक्त अंग हैं। इस प्रकार के पेड़ों का चुनाव सावधानी से करना चाहिए ताकि उनकी फसल से पशुओं के स्वास्थ्य और दूध पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

इतनी बातों से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि वन खेती में, जिसे "त्रिमुखी खेती" भी कहा जाता है, पारंपरिक खेती की जगह कुछ चुने हुए पेड़ भी उगाये जाते हैं और उनके सहारे पशु भी पाले जाते हैं। पर इसमें अन्न उत्पादन की एकदम मनाही नहीं है। वन खेती का यह तीसरा आयाम स्थान और समाज भेद से आवश्यकतानुसार बदलता रहता है। इस प्रक्रिया में, अर्थात् वन खेती में, तीसरा आयाम कहीं तो फलों की बागवानी का है और कहीं खेती का। पहाड़ों में जहां खेती असंभव या अलाभकर होती है वहां इन वृक्षों के साथ-साथ नकदी और दूसरी जिन्सों की खेती भी हो सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विधा में वनस्पतियों की एक नयी संस्कृति परिभाषित होती है, पशुधन की वृद्धि होती है और दोनों एक दूसरे का सहारा लेकर एक ऐसी इकाई बनाते हैं जो मानव समृद्धि का भी आधार बनती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो वनीकरण को, बागवानी, खेती और पशुपालन के साथ मिलाकर किसी क्षेत्र का न केवल संरक्षण करना है वरन् उसे आय का स्रोत भी बनाना है।

अतः जहां भी यह विधा अपनायी जाती है वहां इसके तीनों रूप स्पष्ट हो जाते हैं। तीनों ही, अलग-अलग भी और मिलकर भी, पर्यावरण को सुरक्षित और स्वस्थ रखते हैं और मानव समृद्धि का कारण बनते हैं। पेड़ अपने प्राथमिक रूप में लकड़ी देते हैं, भूक्षरण रोकते हैं, और पर्यावरण को संतुलित रखते हैं। अपने आनुषंगिक रूप में अपने चारे से गो-संवर्धन करते हैं। तीसरे रूप में जमीन की नमी को बचाकर उसको उन्नत करते रहते हैं ताकि उसमें आवश्यक हो तो खेती या बागवानी की जा सके। इसी प्रकार इनके सहारे पलने वाले पशु दूध देकर, अपना मांस देकर, और अपना चमड़ा देकर आर्थिक उन्नति में सहायक होते हैं। इनके सहारे कई और भी उद्योग चल पड़ते हैं। पर जो काम ये विशेष रूप से करते हैं वह यह कि जो पेड़ इन्हें चारा देते हैं उन्हें यह खाद देते हैं। इन दोनों के सहयोग से जब जमीन की किस्म बदलती है अथवा उसकी

रक्षा होती है तो उसमें लगे फलदार वृक्ष हों या खेती की फसल दोनों ही अच्छी उपज देते हैं। इन तीनों के सहयोग से जो पर्यावरण बनता है उसमें आदमी अपने को अत्यन्त स्वस्थ और सुखी अनुभव करता है। वन खेती बीसवीं सदी के अंतिम चरण के और इक्कीसवीं सदी के पूर्वार्ध के पर्यावरण सुरक्षा, कम जमीन पर अधिक खाद्य उत्पादन, और मनुष्य के सुख की समग्रता की युगांतकारी योजना है। पहाड़ों में इसका प्रयोग अभी से प्रारंभ कर देना चाहिए।

"वन खेती" का मूल उद्देश्य ही जमीन की उपजाऊ शक्ति को इस प्रकार नियोजित रूप से बढ़ाना है कि उसके द्वारा न केवल लकड़ी या उससे सीधा संबंध रखने वाली चीजों के उत्पादन को बल मिले बल्कि उससे चारा, भोज्य सामग्री, और कुछ उद्योग संबंधी कच्चे माल की भी उपलब्धि हो। इतना ही नहीं इस प्रक्रिया द्वारा समाज में दूध देने वाले उत्तम नस्ल के पशुओं का पालन और वृक्षों के प्रति सहभागिता का संस्कार उत्पन्न करना भी संभव माना गया है। वस्तुतः ये दोनों चीजें इस प्रक्रिया की अंतभुक्त विशेषता मान ली गयी हैं। इस प्रक्रिया में कृपि आवर्तन और ऋतु चक्र को एक दूसरे का पूरक मानकर उन्हें आयोजित करने का विधान किया जाता है। वनीकरण को, कृपि, पशुपालन और फलोद्यान से एकीकृत करके इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि उस क्षेत्र विशेप में एक तो अधिक से अधिक उपज हो और साथ ही साथ उस क्षेत्र की उर्वरा शक्ति की अधिक से अधिक रक्षा हो। इस प्रक्रिया को थोड़ा और विस्तार से देखना चाहिए।

जब यह प्रक्रिया किसी क्षेत्र में काम में लायी जाती हैं अथवा जहां वन खेती का पूर्ण विकास हो जाता है वहां यह अपने तीन रूपों में प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में यह त्रिविध फलदायिनी होती है। पहले तो यह उस क्षेत्र को उन वृक्षों से भर देती है जो अपने आपमें मूल्यवान होते हैं और उनसे न केवल समाज को लकड़ी उपलब्ध होती है वरन् ये वृक्ष उस क्षेत्र के भूक्षरण को भी रोकते हैं और जलवायु को भी संचालित और सुनियोजित करने में समर्थ होते हैं। दूसरे इस प्रक्रिया में जिस प्रकार के वृक्षों का चुनाव होता है वह इमारती लकड़ी के अलावा पालतू पशुओं को स्वस्थ रखने के लिए प्रमुख चारा उपलब्ध कराते हैं। अधिकांश दशाओं में वह ऐसे भी होते हैं जिनकी फलियां आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य के आहार के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुई हैं। तीसरे जो जानवर इन वृक्षों और इनकी उपज का सहारा लेकर पाले और समृद्ध किये जाते हैं उनसे अधिक दूध, मक्खन, और दूसरे प्रकार के दूध से उत्पन्न खाद्य आहार, अंडे और मांस भी बिक्री और खाने के लिए उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार त्रिमुखी खेती अथवा वनखेती से न केवल कृपि को सहारा मिलता है वरन् किसान की आय भी बढ़ती है और जैसा पहले कहा जा चुका है उत्पादित वस्तुएं एक-दूसरे का पूरक बनकर कृषक की आर्थिक स्थिति उन्नत करती हैं। इसी सिलसिले में एक और चीज की ओर भी इशारा करना जरूरी जान पड़ता है। इस प्रक्रिया वाली खेती में अर्थात् वन खेती में और भी सहायक उपपत्तियां हो जाती हैं। उदाहरण के लिए

चमड़ा, ऊन, मधु, और लीसा या गोंद, कोयला और खाद आदि गिनाये जा सकते हैं। ये केवल उदाहरण मात्र हैं। ये बदले और बढ़ाये जा सकते हैं और स्थान विशेष की बनावट और जलवायु के आधार पर बदलते रहते हैं। इस प्रकार की वन-खेती की संरचना करने में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि उद्योग के उपयोग में आने वाले वृक्षों को लगाते समय उन्हें इस प्रकार लगाया जाये कि उनके बीच-बीच में चरागाहें भी बनायी जा सकें और जिनमें घासें भी उगायी जा सकें या फिर ऐसी झाड़ियां पैदा की जा सकें जो पशुओं के चारे के काम आती हैं। इनका नियोजन इस प्रकार करना चाहिए कि इन चरागाहों में पशुओं को आसानी से ले जाया जा सके और उन्हें वापस भी लाया जा सके। इस प्रकार जो चारा पशुओं को उपलब्ध होगा उसकी आपूर्ति कम होने पर इन पेड़ों की फलियों को काम में लाया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था में या यों कहें कि कृषि चक्र में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का भरपूर समर्थन पाता है और उसका एक नया संस्कार बनता है। वह वनों और उनकी रक्षा में अधिक रुचि लेने लगता है और उसके कृषि योग्य खेत भी अधिक उपजाऊ और सुरक्षित हो जाते हैं। उसकी कृषि-भूमि वनों से और चारे-दाने वाले पेड़ों से घिर कर पृथिवी को अधिक शस्य श्यामल और सुंदर बनाती है। तब पारिस्थितिकीय संतुलन के बिगड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता और जो होता रहता है वह पर्यावरण को सुधारने, संवारने में मददगार ही होता रहता है।

सामान्य वनीकरण से भूमि रक्षा का प्रयास कहीं भी बहुत अधिक सफल नहीं हुआ है। जहां भी सफलताएं मिली हैं वहां वनों के विभाग करने पड़े हैं। वन्य जीवों के लिए उपयोगी वनों को उद्योग के काम में नहीं लाया जा सकता। दोनों काम एक साथ करने पर वन्य जीवों के प्राकृतिक वास स्थान में गड़बड़ी पैदा होती है। उद्योग के लिए उपयोगी वनों को व्यावसायिक समृद्धि के लिए उपयोगी पशुओं से अलग रखना सार्थक साबित नहीं हुआ है। जापान में एक बड़े पैमाने पर किए गए प्रयोग से यह सिद्ध किया जा चुका है कि औद्योगिक वनों को पशुधन के विकास के साथ एकीकृत करके उगाना अधिक लाभदायक होता है। लेकिन बावजूद इन सफलताओं के अभी तक वन-खेती का प्रयोग बड़े पैमाने पर सब जगह नहीं हो रहा है। इस त्रिमुखी खेती की ही ओर प्रधानमंत्री बार-बार ध्यान आकृष्ट कर रही हैं। हिमाचल में कुछ वर्ष पहले यह प्रयोग बड़ी सफलतापूर्व प्रारंभ किया गया था और कृपकों की—अर्थात् वन खेती करने वाले कृषकों की—सोसाइटियां भी संगठित की गयीं पर शायद वहां भी अब इस ओर से शासन का ध्यान हट गया है।

वन खेती की बात करते समय एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक जान पड़ता है। जहां इसके त्रिविध या उससे अधिक लाभों का चर्चा किया गया वहां एक और लाभ भी इस खेती से होता है। इसके माध्यम से ग्रामीण समाज में एक अकल्पनीय परिवर्तन आता है। वह एक शिक्षित समाज बनने लगता है और उसका दृष्टिकोण कई प्रकार के अंधविश्वासों से हटकर उन तमाम कम उपजाऊ या अनुपजाऊ बंजर जमीनों

की उन्नति की ओर लग जाता है जो अन्यथा न तो उसके काम आती है न समाज के। उल्टे पारिस्थितिकीय संतुलन के बिगड़ने में ही मददगार होती है। वस्तुतः यह इसलिए होने लगता है क्योंकि हर वन खेती करने वाला कृषक अपनी वनखेती की संरचना करते हुए अपनी पारिस्थितिकीय व्यवस्था स्वयं कायम करने लगता है और इस प्रकार उसे जो अनुभूतिजन्य शिक्षा प्राप्त होती है वह उसे सहसा आधुनिक विज्ञान के दरवाजे पर खड़ा कर देती है। वह उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता। उसकी वहुत-सी अनुपजाऊ जमीन उसे आर्थिक समृद्धि देने लगती है और इस प्रकार वह एक ऐसी आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ने लगता है जो उसके लिए भी और उसके ग्राम समाज के लिए भी सुखद और स्वास्थ्यकर होती है।

एक वार फिर समझ लें कि वन-खेती, खेती, वनीकरण और पशुपालन का एकीकृत रूप है। यह न केवल एक-दूसरे के पूरक होकर पनपते हैं वरन् अपनी एकता से एक ऐसी सायुज्य संपदा का दर्शन कराते हैं कि एक को अलग कर दूसरे को देखना असंभव हो जाता है। प्राचीन काल में भी खेती का यह रूप वहुत कुछ पुस्तकों में पढ़ने को मिलता है पर उन्हें पढ़ने और समझने से ऐसा लगता है कि आवादी के कम रहने के कारण वह एक स्वयं-जात रूप था। उसे रचने का विशेष आग्रह नहीं था वल्कि वही था और उसे नकारा नहीं गया। पर आज की विशेष स्थिति में जव आवादी वढ़ती ही जा रही है वन-खेती को भी सुनियोजित ढंग से अपनाना होगा। आज के जमाने में जव कृषि विभाग अपनी अर्थवत्ता खो चुका है उसे इस ओर पहल करनी चाहिए। कृषि विभाग के वहुत सारे काम जो वह पहले करता था अव विकास विभाग के अधीन काम करने वाले विकास खंडों में चला गया है। प्रयोग और आदर्श फार्म वनाने और उनकी उपलब्धियों की कृषक समाज की जानकारी और शिक्षा के लिए प्रस्तुत कराने का काम केंद्रीय संस्थाएं करने लगी हैं। अतः वहुत विस्तार में न जाकर भी यह सुझाव विचारणीय होना चाहिए कि क्यों न कृषि विभाग, वन विभाग तथा पशुपालन विभाग मिलकर "वन खेती" की प्रायोजनाएं बनायें, उन्हें कार्यान्वित करें और गांव समाजों के साथ वैठकर उन्हें सफल वनाएं।

पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री के वार-वार दुहराते रहने पर भी वन-खेती को सामाजिक वानिकी के साथ मिलाकर न केवल सरकारें और सरकारी विभाग अपने को भ्रम में रखे हुए हैं वरन् उसी भ्रमजाल में समाज को भी फंसाये हुए हैं।

वन कटते रहे तो दूसरा महाभारत होगा

वन पहले से खड़े थे। वृक्ष भी उनमें थे, लताएं और क्षुप भी। नाना प्रकार के फल-फूल भी। इनमें जीव भी सभी प्रकार के थे, शाकाहारी और मांसाहारी भी। वनस्पतियों में भी कुछ मांसाहारी वनस्पतियां थीं। मनुष्य भी इन्हीं जीवों में था। इन सभी के साथ इन्हीं वनों में वनस्पतियों के सहारे रहता था। वनों ने मनुष्य को पहचाना। देखा, इसमें औरों से अधिक बुद्धि थी। अतः इसे खड़ा होना सिखाया। फिर यह वनों से वाहर आया। देखा, शस्य श्यामल और विस्तृत धरती भी पड़ी है। उसमें इसने कृषि-कार्य प्रारंभ किया। कृषि और वन अलग-अलग रहे। पर दोनों में विरोध नहीं हुआ। वनों का प्राधान्य तव भी वना रहा। वन, खेती, मनुष्य और दूसरे जीव सव एक-दूसरे के हित के लिए जी रहे थे। सवकी साझेदारी थी। एक वृहत्तर समाज था। एक का अधिकार, दूसरे का कर्त्तव्य था। वनों से वहुत-सी नदियां भी आयीं। पहाड़ों से उतरती हुई भी वह वनाच्छादित ही रहीं। मैदानों से निकलकर उन्होंने खेतों को सींचा, मनुष्य और दूसरे जीवों को पीने और नहाने का निर्मल और शुद्ध जल दिया। इसके साथ ही अपने भीतर भांति-भांति के जलचर जीव भी ले आयी। मनुष्य ने सवको देखा और पहचाना।

जंगल : आदमी के पूर्वपुरुष

मनुष्य की भूख जाग्रत हुई। वह प्रजापति हुआ। उसकी संतानें बढ़ीं। उसने अपने खाने की रीति भी वदली। अव वह खाने को आग पर पकाकर भी खाने लगा। पकाने के लिए ईंधन की जरूरत पड़ी। प्रारंभ में उसका भोजन वनों के वाहर ही खेतों से, नदियों से और वनों के वाहर के वृक्ष-समुदाय से मिल जाता था। ईंधन भी इन्हीं वृक्षों से मिल जाता था। फिर भी उसने वनों का साहचर्य नहीं छोड़ा। चिंतन, मनन और तप के लिए वह वहां जाता था। उसके मनीषी वहीं रहते थे। उनके कारण वनों का समाज अहिंसक वना रहा। उनके प्रभाव क्षेत्र अरण्य कहलाये। वनों के वाहर रहने वाला साधारण नागरिक भी वनों में जाता रहा। वन उसके पूर्व पुरुष के समान वने रहे। वह उनकी पूजा भी करता रहा। पर वनों में उसने आखेट का सुख भी जारी रखा। इसमें उसे साहस, शौर्य, और आनंद की उपलब्धि होती थी। पर मनुष्यों ने यह

आयुध अलग रख देता था। वहां जीव हत्या नहीं करता था। ऐसी परिपाटी प्रचलित थी। ऋषियों का आदर भी था और भय भी।

जंगल में दुश्मनी

आदमी की आबादी बढ़ती गयी। उसे मकान और आवागमन के लिए सड़कों की जरूरत पड़ी। अब वह एक भाग से दूसरे भाग, यहां तक कि एक देश से दूसरे देशों में भी जाकर बसने लगा। दूसरी जगहों में जाने पर उसे वन ही वन मिलते। अपने बसने और खेती के लिए उसने उन्हें काटना शुरू किया।

इस प्रकार पहली लड़ाई और दुश्मनी उसने वनों से ही की। फिर भी उन्हें विश्वास बना रहा कि एक दिन जरूर आएगा, जब मनुष्य को अपनी गलती स्वीकार करनी पड़ेगी।

वनस्पति और मनुष्य में युद्ध

ऐसा अब हो रहा है। पर कहीं-कहीं सब कुछ खोकर। यह अंतश्चेतना ऐसी स्थिति में पहुंचकर जगी कि फिर वनों का वापस आना असंभव हो गया है। जब वनों का नाश प्रारंभ हुआ और कृषि की जगह आदमी उद्योग-प्रधान हुआ तो मशीनों का भी आविर्भाव हुआ। पहले तो मनुष्य जो कुछ करता था हाथों के ही सहारे करता था, अब मशीनों को उसने अपना साथी बनाया। इस नयी संस्कृति में पुरानी संस्कृति लुप्त हो चली। कहीं-कहीं उसकी याद रह गयी। उसने औद्योगीकरण की प्रक्रिया में भी वनों का तेजी से नाश प्रारंभ किया। वनों के साथ जो वन्य जीव बच रहे थे, उनका भी नाश प्रारंभ हुआ। वे मनुष्य भी, जो अभी भी वनों में रहते रहे, और जिन्हें यह उद्योग-पुरुष आदिमवासी कहने लगा था, विस्थापित होने लगे।

वे बचे हुए वनों में ही एक जगह से दूसरी जगह घूमने लगे। इससे भी वनों में एक अपरिचित हलचल प्रारंभ हुई। यह भी वनों के स्वास्थ्य के लिए हानिकर सिद्ध हुई। वन रोगी भी होने लगे। छीजने लगे। पर अब उनकी चिकित्सा कौन करता? वे विश्व के समग्र समाज में अल्पसंख्यक बन गए। उनकी नागरिकता दूसरे दर्जे की हो गयी। वे पूर्णतः मनुष्य के ऊपर उसकी इच्छा और विचार के ऊपर आश्रित हो गए। वही अब उनकी देख-रेख भी करने लगा। अपनी सुविधा के वृक्षों को छोड़कर अन्य वनस्पतियों का समूल नाश करने लगा। इस प्रकार बहुत-सी पुरानी वनस्पतियां तो अब लुप्त हो गयीं। जो हैं भी, उनकी पहचान भी खो गयी। कभी-कभी अगर उनकी याद आती है, तो मनुष्य उनकी खोज करता है। मिल जाने पर उन्हें लाकर नागर पौध-शालाओं में लगाता है। उनका नये सिरे से परीक्षण करता है। अपने मनोविनोद के लिए और आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी उनका संकर प्रजनन करता है।

कुछ वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि उनकी अपनी विचार-शक्ति कहीं बाकी बची है और जब मनुष्य का अत्याचार हद से पार हो जायेगा तब वनस्पतियों और

मनुष्यों के बीच एक भयानक युद्ध की आशंका है, जिसमें वनस्पतियां विजयी होंगी। यदि ऐसा हुआ, तो एक ही कुटुंब के प्राणी आपस में लड़ेंगे। वह फिर दूसरा महाभारत होगा।

अक्षुण्ण ऊर्जा के स्रोत

कभी वन अगर कहना चाहते तो यह कहते कि "अहमस्मि प्रथमता ऋतस्य पूर्व देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः" मैं ही पहले उत्पन्न हुआ था। देवों से भी पहले, अमृत की नाभि से। पर अब तो मनुष्य के अधीन उसका जीवन चल रहा है। देवों की कल्पना तो इन्हीं वनों के बीच बैठकर ही हमारे ऋषियों ने की थी। अतः यदि वह कहें कि वे देवों से भी पूर्व थे तो इसमें अनुचित क्या है। "अमृतस्य नाभिः" तो वह अब भी है। इतना काटे जाने पर भी वह निःशेष खड़े हैं। आज के वैज्ञानिक भी पुकार-पुकार कर यही कहते सुने जाते हैं कि कई प्रकार की ऊर्जाएं तो समाप्त हो जायेंगी, पर लकड़ी से प्राप्त होने वाली ऊर्जा बार-बार उत्पन्न होने वाली है। यही एक ऐसी ऊर्जा है, जिसका जन्म बराबर होता रह सकता है। पुनर्जीवन की क्षमता इसी में है।

वन-युग की पुनर्स्थापना

सभ्यता और संस्कृति का विकास वनों से ही हुआ और जहां हम पहुंचे हैं वनों को पीछे धकेलते हुए पहुंचे हैं। यदि मानव और मानव-सभ्यता को बचाये रखना है तो वनों को काटना नहीं होगा, वनों को और अधिक उगाना होगा।

समृद्धि की कामधेनु

आज सारे विश्व में एक नारा बहुत बुलंद है। उसका आश्वासन भी कई प्रकार के नारों से ही दिया जा रहा है। मानवता को भूख से बचाने का नारा सभी देशों से उठ रहा है। सभी समृद्ध देश यह आश्वासन देते देखे-सुने जा रहे हैं कि सबकी समृद्धि और विश्वशांति में ही मानव संस्कृति और सभ्यता सुरक्षित रहेगी। पर यदि सबको रोटी, कपड़ा और मकान देना है, यातायात की सुविधाएं और शिक्षा देनी है, तब हमें आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में कल्पनातीत वृद्धि करनी पड़ेगी। कृषि के अलावा जिस दूसरी चीज से यह सारी चीजें हमेशा पूरी की जा सकती हैं वह वन ही है। पर ऐसा करने के लिए वनों को खान समझकर उन्हें खोदना बंद करना पड़ेगा। उन्हें कामधेनु मानकर उनकी रक्षा और सेवा करनी पड़ेगी। उन्हें लगातार उगाते और बढ़ाते रहना पड़ेगा।

अखंड सामाजिकता

इसके लिए हमें एक बार पुनः अपना संस्कार बदलना पड़ेगा। वनों को अपना श्रेष्ठ मानना पड़ेगा। उनके समाज में पुनः प्रवेश करना पड़ेगा, अपने और उनके समाज को खंड-खंड में देखने की प्रवृत्ति छोड़नी पड़ेगी। जीवों की (जिनमें वनस्पति, पशु और

मनुष्य सभी आते हैं।) अखंड सामाजिकता स्थापित करनी पड़ेगी।

इतना ही नहीं, उस पृथ्वी से भी प्रार्थना करनी पड़ेगी या दूसरे शब्दों में उसका वह रूप पुनः स्थापित करना पड़ेगा जिसमें यह पहले कभी देखी गयी थी :

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथ्वी स्योनमस्तु
बभ्रुं कृष्णां रोहिणी विश्वरूपांऽध्रुवा भूमि पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्
अजीतो हतोऽक्षतोऽवपां पृथ्वीमहम्

"हे पृथ्वी, तुम्हारे छोटे-बड़े और हिमाच्छादित पहाड़, तुम्हारे वन हमारे लिए सुखकर हों। मैं इस इंद्र द्वारा रक्षित, भूरी, काली, लाल अनेक रंगों वाली पृथ्वी पर अजित, अहत और अक्षय होकर अधिष्ठित रहूं।"

वनों की सामाजिकता खंडित हो गयी

वन पहले से खड़े थे। वृक्ष भी उनमें थे, लतायें और क्षुप भी। नाना प्रकार के फल-फूल थे। इनमें जीव भी सभी प्रकार के थे। शाकाहारी भी और मांसाहारी भी। वनस्पतियों में भी कुछ मांसाहारी वनस्पतियां थीं। मनुष्य भी इन्हीं जीवों में था। इन सभी के साथ इन्हीं वनों में वनस्पतियों के सहारे रहता था। वनों ने इसको पहचाना। देखा इसमें बुद्धि अन्यों से अधिक थी। अतः उसे खड़ा होना सिखाया। यह भी पेड़ों की भांति सीधा तनकर खड़ा हो गया। सीधा पावों पर चलने लगा। अतः अन्य जीवों से भिन्न हुआ। पर ऐसा होकर भी इसमें पेड़ों का बड़प्पन नहीं आया। यह उनसे छोटा ही रहा। फिर यह उनके बाहर आया। देखा शस्य-श्यामल और विस्तृत धरती भी पड़ी है। उसमें इसने कृषि आरंभ की। कृषि और वन अलग-अलग रहे। पर दोनों में विरोध नहीं हुआ। वनों का प्राधान्य तब भी बना रहा। वन, खेती, मनुष्य और दूसरे जीव सब एक दूसरे के हित के लिए जी रहे थे। सबकी साझेदारी थी। एक बृहत समाज था। एक का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य था। वनों से बहुत-सी नदियां भी आयीं। पहाड़ों से उतरती हुई भी वह वनाच्छादित ही रहीं। मैदानों में निकल कर उन्होंने खेतों को सींचा, मनुष्य और दूसरे जीवों को पीने और नहाने का निर्मल और शुद्ध जल दिया। इसके साथ ही अपने भीतर भांति-भांति के जलचर जीव भी ले आयीं। मनुष्यों ने सबको देखा और पहचाना।

मनुष्य की भूख जागृत हुई। वह प्रजापति हुआ। उसकी संतानें बढ़ीं। उसने अपने खाने की रीति भी बदली। अब वह भोज्य को आग पर पका कर भी खाने लगा। पकाने के लिए ईंधन की जरूरत पड़ी। प्रारंभ में उसका भोजन वनों के बाहर ही, खेतों में, नदियों में, और वनों के बाहर वृक्ष समुदायों में मिल जाता था। ईंधन भी इन्हीं वृक्षों से मिल जाता था। फिर भी उसने वनों का साहचर्य नहीं छोड़ा। चिंतन, मनन और तप के लिए वह वहीं जाता था। उसके मनीषी वहीं रहते थे। उनके कारण वहां का समाज अहिंसात्मक बना रहा। उनके प्रभाव क्षेत्र शरण्य कहलाये। वनों के बाहर रहने वाला साधारण नागरिक भी वनों में जाता रहा। वन उनके पूर्वपुरुष के समान बने रहे। वह उनकी पूजा भी करता रहा। पर वनों में उसने आखेट या मृगया भी जारी रखी। इसमें उसे साहस, शौर्य, और आनंद की उपलब्धि होती थी। पर शरण्यों में वह

आयुध अलग कर देता था। वहां जीव हत्या नहीं करता। ऐसी ही परिपाटी चला ली थी। ऋषियों का आदर भी था, और भय भी। पर बाहर उसकी आबादी बढ़ती गयी। उसे मकान और आवागमन के लिए सड़कों की जरूरत पड़ी। फिर भी बहुत दिनों तक इसका दबाव वनों पर नहीं पड़ा। उसकी आवश्यकताओं का एक बड़ा हिस्सा वनों के बाहर उगे और उगाये जाने वाले वृक्षों से पूरा होता रहा। पर उसकी आबादी बढ़ती ही रही। अब वह एक भाग से दूसरे भाग यहां तक कि एक देश से दूसरे देशों में भी जाकर बसने लगा। दूसरी जगहों में जाने पर उसे वन ही वन मिलते। अपने बसने और खेती के लिए उसने उन्हें काटना शुरू किया। इस प्रकार पहली लड़ाई और दुश्मनी उसने वनों से ही की। वन कटते रहे। फिर भी अपने ही द्वारा निर्मित इस क्रूर और अदूरदर्शी मानव के कल्याण की प्रार्थनाएं करते रहे। उन्होंने कहीं-कहीं विरोध भी किया। पर उनका विरोध अहिंसात्मक ही रहा। एक दिन ऐसा भी आया कि कहीं-कहीं से वनों का सर्वनाश ही हो गया। वे शेष हो गये। फिर भी उन्हें विश्वास बना रहा कि एक दिन वह जरूर आयेगा जब मनुष्य को अपनी गलती स्वीकार करनी पड़ेगी। वह फिर वनों की ओर आयेगा। उन्हें न केवल सुरक्षित रखेगा वरन् उन्हें समग्र समाज में उचित स्थान भी देने का प्रयत्न करेगा।

ऐसा अब हो रहा है। पर कहीं-कहीं सब कुछ खो कर। ऐसी स्थिति में पहुंच कर यह अंतश्चेतना जगी कि फिर वनों का वापस आना असंभव हो गया है। जब वनों का नाश प्रारंभ हुआ और कृषि की जगह उद्योग प्रधान हुआ तो मशीनों का भी आविर्भाव हुआ। पहले तो मनुष्य जो कुछ करता था हाथों के ही सहारे करता था। उसे सीधे खड़े होकर चलने और वनों द्वारा दिये गये अंगूठे की बनावट के सहारे ही करता रहा। अब मशीनों को उसने अपना साथी बनाया। इस नयी संस्कृति में पुरानी लुप्त हो चली। केवल उसकी याद रह गयी। उसने औद्योगीकरण की प्रक्रिया में वनों का तेजी से नाश शुरू किया। वनों के साथ जो वन्य जीव बच रहे थे उनका भी नाश प्रारंभ हुआ। वे मनुष्य भी जो अभी भी वनों में रहते रहे, और जिन्हें यह उद्योग-पुरुष आदिवासी कहने लगा था, विस्थापित होने लगे। एक अवांछनीय दबाव का अनुभव करने लगे। फिर भी उन्होंने वनों को नहीं छोड़ा। वे बचे हुए वनों में ही एक जगह से दूसरी जगह घूमने लगे। इससे भी वनों में अपरिचित हलचल प्रारंभ हुई। यह वनों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। वन रोगी होने लगे। छीजने लगे। पर अब उनकी चिकित्सा कौन करता? वे विश्व के समग्र-समाज में अल्पसंख्यक बन गये। उनकी नागरिकता दूसरे दर्जे की हो गयी। अब वे पूर्णतः मनुष्य के ऊपर, उसकी इच्छा और विचार के ऊपर आश्रित हो गये। वही अब उनकी देख-रेख भी करने लगा। अपनी सुविधा के वृक्षों को छोड़कर अन्य वनस्पतियों का समूल नाश करने लगा। इस प्रकार बहुत सी पुरानी वनस्पतियां तो अब लुप्त हो गयीं। जो हैं भी उनकी पहचान खो गयी है। अब वे अपरिचित होकर ही अपने पुराने साथियों के बीच कहीं लुकी-छिपी पड़ी हुई हैं। कभी-कभी अगर उनकी याद आती है तो मनुष्य उनकी खोज करता है। मिल

जाने पर उन्हें लाकर नागर पौधशालाओं में लगाता है। उनका नये सिरे से परीक्षण करता है। अपने मनोविनोद के लिए भी और आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी उनका संकर प्रजनन करता है। इस प्रकार उनकी सत्ता भी मानव विवेक पर ही टिकी हुई है। कुल मिलाकर वनों की नागरिकता उन लोगों की नागरिकता के समान है जिन्हें वोट देने का अधिकार नहीं अतः इस दृष्टि से भी वे समाप्त हो गए। अब उनकी रक्षा और प्रजनन का भार मनुष्य ने अपने हाथों में ले लिया है। वे भी उपनिवेशवाद के सिद्धांतों और शासन से पराभूत होकर जी रहे हैं। पर कुछ वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि उनकी अपनी विचार शक्ति कहीं बाकी है और जब मनुष्य का अत्याचार हद से पार हो जायेगा तो वनस्पतियों और मनुष्यों के बीच एक भयानक युद्ध होने की आशंका है जिसमें वनस्पतियां विजयी होंगी। यदि ऐसा हुआ तो एक ही कुटुंब के प्राणी आपस में लड़ेंगे। वह फिर दूसरा महाभारत होगा। शायद फिर कोई व्यासदेव होंगे जो कहेंगे :

ऊर्ध्ववाहु विरौम्येष न कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्शश्च कामश्च, स धर्म्मः किं न सेव्यते ॥

वहरहाल, सम्प्रति जो दशा है उसमें मनुष्य समाज भी टुकड़े-टुकड़े में वंटा है, वर्ण और धर्म की दीवारें खड़ी हैं वैयक्तिक निष्ठा और आचार के लिए नहीं वरन् समाज को वांटने के लिए। जीव जीवों में वंटा है एक दूसरे का पोषक होने के लिए नहीं वरन् शोषण की शक्ति के आधार पर। फिर भी इन सबको वर्दाश्त करता हुआ वन अपने आश्रित कुछ प्राणियों को लिये हुए सिमट कर अब भी खड़ा है। उसकी दृष्टि भावी की ओर है। वह मनुष्य की अवांछनीय प्रवृत्तियों को, उसके कर्मों को विचारपूर्वक धैर्य और साहस से देख रहा है। उसने जिस समाज का निर्माण किया था वह समाज खंडित हो गया। अभी वन अगर कहना चाहते तो यह कह सकते थे कि "अहमस्मि प्रथमता ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।" मैं ही पहले उत्पन्न हुआ था। देवों से भी पहले, अमृति की नाभि से। पर अब तो मनुष्य के अधीन उनका जीवन चल रहा है। देवों की कल्पना तो इन्हीं वनों के बीच ही हमारे ऋषियों ने की थी। अतः यदि वह कहें कि वह देवों से भी पूर्व थे तो इसमें अनुचित क्या है। "अमृतस्यनाभिः" तो वह अब भी हैं। इतना काटे जाने पर भी वह निःशेष खड़े हैं। आज के वैज्ञानिक भी पुकार-पुकार कर यही कहते सुने जाते हैं कि और कई प्रकार की ऊर्जाएं तो समाप्त हो जायेंगी पर लकड़ी से प्राप्त होने वाली ऊर्जा बार-बार उत्पन्न होने वाली है। यही एक ऐसी ऊर्जा है जिसका जन्म वरावर होता रह सकता है। पुनर्जीवन की क्षमता इसी में है।

जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं सभ्यता और संस्कृति का विकास वनों से हुआ और जहां हम पहुंचे हैं वहां वनों को पीछे धकेलते हुए पहुंचे हैं। यदि ऐसा ही होता गया तो यह मानवता के विकास का प्रारंभ भी होगा। अभी तक हमें यही रास्ता दिखाया गया और यही समझाया गया था कि मानव विकास की कहानी ऐसी ही रही है। पर सत्य यह नहीं है। सत्य यह है कि मानव को और मानव सभ्यता को बचाये रखना है तो

वनों को काटना नहीं होगा, वनों को और अधिक उगाना होगा। इस सच्चाई को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि यह युग जिसे हमने परमाणु युग कहा वह ध्वंस का युग था और वह बीत गया। यदि नहीं तो हमें सप्रयत्न उस अध्याय को वंद करना पड़ेगा और वन-युग को पुन: स्थापित करना पड़ेगा। इस बात को मानने में किसी को भी कठिनाई नहीं होगी कि जिन पृष्ठों पर यह और इसके साथ अन्य लेख छपे हैं वह कागज वनों की लकड़ियों से बना है, जिस गोंद ने इन पृष्ठों को एक साथ बांधे रखा है वह भी उन्हीं लकड़ियों की उपज है। जिस कलम से ये लेख लिखे गये हैं वह भी लकड़ी का ही प्लास्टिक है। अगर लेख लिखने वालों या पढ़ने वालों ने चश्मा लगा रखा हो तो उनके चश्मे की चौखट भी लकड़ी की ही उपज है। जिन घरों में हम रहते हैं उनमें लकड़ी का उपयोग और महत्त्व आसानी से देखा जा सकता है। जिन मेज़ों, कुर्सियों, और चारपाइयों का हम इस्तेमाल करते हैं वह प्रधानत: लकड़ी की ही होती हैं। टेलीफोन तक का पचास फीसदी भाग लकड़ी की ही करामात है। जो रंग हम घरों और उठने वैठने तथा साज-सज्जा के सामानों पर लगाते हैं वह भी लकड़ी की देन है और जिस तारपीन से उन रंगों को छुड़ाते हैं वह भी लकड़ी से ही आता है। रेयान के कपड़ों का विज्ञापन किसने नहीं देखा होगा। वह क्या मूलत: लकड़ी नहीं है ? यह बात शायद बहुत से लोग नहीं जानते कि लकड़ी से फोटो की फिल्म भी वन जाती है। कर्णमधुर रागों और स्वरों से भिगोने वाली सारंगी और वायलिन की प्रत्यंचा में रोजिन (लिसा) वैठकर उसे सार्थक करती है और तो और हम जो वेनिला आइसक्रीम वड़े चाव से खाते रहते हैं उसका स्वाद लकड़ी से वने वेलिज की देन है। चाकलेट की चीनी, कुछ दवाइयां और डी० डी० टी० तथा विटामिन डी० भी लकड़ी से मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वन कट कर भी हमें जीवन की वह तमाम सुविधाएं देते हैं जिनके बल पर हम अपने को सभ्य और सुसंस्कृत कहते हैं। आत्म वलिदान का इतना वड़ा उदाहरण और कहीं देखने को नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में यह मानना कठिन जान पड़ता है कि वनों के विना हम जी सकते हैं। मनुष्य ने अपने छोटे से इतिहास में—उस अवधि में, जिसे वह अपनी प्रगति का इतिहास कहता है—मूल वनों के एक तिहाई से अधिक को काटकर चटियल भूमि और रेगिस्तान में वदल दिया है। फिर पृथिवी का, या यों कहें कि जलभाग को छोड़कर वचे हुए भूभाग का एक चौथाई तो अभी भी वनों से आच्छादित रह गया है। इसके वने रहने की संभावना वढ़ायी जा सकती है। पर इसके लिए समझदारी से काम लेना पड़ेगा। अभी तक नासमझी से काम लिया गया था। प्रौद्योगिक सभ्यता में वनों की पहचान नहीं हो सकी। अन्यथा वह इनका इतनी वेकदरी से उपयोग नहीं करती। जानकार लोगों ने इस वरवादी के वड़े आंकड़े एकत्र किये हैं। पर यहां एक छोटी-सी मिसाल काफी होगी। लकड़ी चीरने की मिलें लगी हुई हैं। इनमें आने वाली लकड़ी का पूरा-पूरा उपयोग करने के वजाय इनका 40 से 70 प्रतिशत भाग वरवाद जाता है। वावजूद जानकारी उपलब्ध हो जाने के अभी भी लुगदी वनाने की अलग मिलें, लकड़ी चीरने की अलग,

कोयला बनाने की अलग, शराब बनाने की अलग, और प्लास्टिक की अलग मिलें लगती जा रही हैं। यदि इन सबके बनाने का एक ही कारखाना हो तो उसमें एक समूचा पेड़, बिना अंग प्रत्यंग में नष्ट हुए, अपने आत्मोत्सर्ग में इन सभी प्रकार और कुछ इनसे भिन्न प्रकार की वस्तुएं यथा पेंट, वार्निश, कागज आदि भी उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार कम पेड़ काटकर अधिक लाभ उठाया जा सकता है। पेड़ों की कटान भी गलत ढंग से होती है। आज जिस प्रकार काम हो रहा है उसमें चार पेड़ काटकर एक पेड़ से भी कम ही उपयोगी सामग्री दे रहे हैं। यह चौगुनी बरबादी रोकी जा सकती है। यह सब करने में समर्थ होने के लिए हमें वनों को बनाने वाले पेड़ों का महत्त्व समझना पड़ेगा। इस संबंध में भी एक छोटी-सी मिसाल उपयोगी साबित हो सकती है। यह तथ्य सामने आ चुका है कि एक एकड़ जमीन पर उगा अच्छा वन प्रतिवर्ष एक एकड़ पर उगायी जाने वाली कपास के मुकाबले कई गुना अधिक कपड़ा देने में समर्थ होता है। वन के जबकि कई लाभ हैं, कपास का एक ही लाभ रुई है। यह जानकर भी वनों को उगा कर अधिक वन और अधिक कपड़े की मांग नहीं पूरी की जा रही है।

आज सारे विश्व में एक नारा बहुत बुलंद है। उसी का आश्वासन भी कई प्रकार के नारों से ही दिया जा रहा है। मानवता को भूख से बचाने का नारा सभी देशों में उठ रहा है। सभी समृद्ध देश यह आश्वासन देते सुने जा रहे हैं कि सबकी समृद्धि और विश्व शांति में ही मानव संस्कृति और सभ्यता सुरक्षित रहेगी। पर यदि सबको रोटी, कपड़ा और मकान देना है, यातायात को सुविधाएं और शिक्षा देनी है तब हमें आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में कल्पनातीत वृद्धि करनी पड़ेगी। कृषि के अलावा जिस दूसरी चीज से यह सारी चीजें हमेशा पूरी की जा सकती हैं वह वन ही है। पर ऐसा करने के लिए वनों को खान समझ कर उन्हें खोदना बंद करना पड़ेगा। उन्हें लगातार उगाते और बढ़ाते रहना पड़ेगा। आज हमें विज्ञान और तकनीक का जो ज्ञान प्राप्त हो चुका है उसका सहारा लेकर हम अपने वनों का उत्पादन कम से कम दस गुना बढ़ा सकते हैं। आज जितना उत्पादन हो रहा है और उसके साथ जितनी अधिक बरबादी हो रही है उसे एक ओर बढ़ाया जा सकता है और दूसरी ओर एकदम बंद किया जा सकता है। यदि हम केवल एक टन फी एकड़ वन की उपज का अनुमान लगा कर भी अपने भविष्य का अंदाजा लगाना चाहें तो हमें यह स्पष्ट होगा कि आज मनुष्य की आबादी खाद्य, कोयला, तेल, खनिज पदार्थ और कपड़े का जितना खपत कर रही है उसका दुगना इन वनों से ही प्राप्त होता रह सकता है। वनों के इस संस्कार से उनकी अभिवृद्धि से मनुष्य अपनी आवश्यकता से तिगुनी अधिक सामग्री प्राप्त कर सकता है और उसकी रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य की न केवल जरूरत पूरी होगी वरन् उसके पास उसकी आवश्यकता से अधिक मात्रा उपलब्ध रहेगी।

पर इसके लिए हमें एक बार पुनः अपना संस्कार बदलना पड़ेगा। वनों को अपना श्रेष्ठ मानना पड़ेगा। उनके समाज में पुनः प्रवेश करना पड़ेगा, अपने और उनके समाज को खंड-खंड में देखने की प्रवृत्ति छोड़नी पड़ेगी। जीवों की, जिनमें वनस्पति,

पशु और मनुष्य सभी आते हैं, अखंड सामाजिकता स्थापित करनी पड़ेगी। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के शब्दों में कहना पड़ेगा कि :

यस्यां पूर्वे पूर्व जना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवां अश्वाना वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥

"जिस पृथिवी पर हमारे पूर्वजों ने अनेक काम किये हैं, जिसमें देवों ने असुरों से युद्ध किया, जिसमें गऊ अश्व और पक्षी रहते हैं, वह पृथिवी हमको धन और तेज दे।"

इतना ही नहीं, उस पृथिवी से भी प्रार्थना करनी पड़ेगी या दूसरे शब्दों में उसका वह रूप पुनः स्थापित करना पड़ेगा जिसमें यह पहले कभी देखी गयी थी :

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवांभूमिं पृथिवीमिन्द्र गुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥

हे पृथिवी, तुम्हारे छोटे बड़े और हिमाच्छादित पहाड़ तुम्हारे वन हमारे लिए सुखकर हों। मैं इस इंद्र द्वारा रक्षित, भूरी काली, लाल अनेक रंगों वाली पृथिवी पर अजित, अहत और अक्षत होकर अधिष्ठित रहूं।

की प्रगति में मांगा जा रहा है यह जरूर जानना चाहेंगे कि इस प्रश्न को लेकर केंद्रीय शासन ने वनों की राष्ट्रीय नीति में, और प्रादेशिक शासनों ने वनों से राजस्व न कमाने या उन्हें "राजस्व उपयोगी परिसंपत्ति" न समझने की दिशा में क्या कदम उठाये हैं।

इन दो कारणों के अतिरिक्त जो अन्य कारण हैं और जिनका अवांछनीय दवाव वनों पर पड़ रहा है उनका भी चर्चा उचित होगा। कुछ वर्षों पहले या यों कहा जाय कि आज से एक दशक पूर्व श्री नाथूराम मिर्धा की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय आयोग कृषि संबंधी समस्याओं पर विचार करने के लिए गठित हुआ था। उसके उपाध्यक्ष श्री वी० शिवारमन थे। इस आयोग के विचाराधीन जो प्रश्न उपस्थित किये गये उनमें वनों के विकास की समस्या भी थी। कृषि के विकास की समस्या को वनों से अलग रख कर देखा ही नहीं जा सकता था। इसी प्रकार वन संवर्धन की वातें भी कृषि को अलग करके देखना मौलिक गलती होती। अतः यह उचित ही था कि यह आयोग इसके परस्पर संवंधों पर भी विचार करता। इस आयोग ने जिन वातों का ऊहापोह किया उसमें कुछ ऐसी समस्याएं भी सामने आयीं जिनके कारण भी वनों का ह्रास होता जा रहा है और जब तक उनका समाधान नहीं होता यह प्रक्रिया जारी रहेगी। आयोग के सामने यह समस्या उभर कर आयी थी कि जहां तक सुरक्षित और संरक्षित वनों का संबंध है, और जो आवादी से सटे हुए खड़े हैं उनमें पड़ोसी गांवों के निवासियों को पशुओं के चराने, जलावन और कुछ इमारती लकड़ी लेने का अधिकार मिला हुआ है। जहां ये वन उन गांव वालों की आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व संभालने की कोशिश करते हैं वहीं आवश्यकताओं की पूर्ति के नाम पर इन वनों से लकड़ी काटने और वेचने का अवैध व्यापार भी अवाध रूप से चल रहा है। इस प्रकार जो वन सुरक्षित वन कहे जाते हैं वह आज असुरक्षा का सामना कर रहे हैं और तेजी से क्षीण होते जा रहे हैं।

थोड़ी देर के लिए यह वात मान लें कि आज का हिंदुस्तानी—सरकार में काम करने वालों को छोड़कर, विशेषकर वन विभाग में—वन और वनों के महत्त्व को भूल चुका है और बिल्कुल नहीं समझता। इसी कारण सुरक्षित वनों की कौन कहे इक्के-दुक्के खड़े हरे पेड़ों को भी काट लेने और उखाड़ देने में अपराध भावना से ग्रसित नहीं होता। पर जब कृषि आयोग यह वात कहे कि वन विभागों का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि अपने कुछ वनों की व्यवस्था वह इस प्रकार नियोजित करें कि जिससे उनके आस-पास रहने वाले आदमियों को अपनी जरूरत का जलावन, चारा, और इमारती लकड़ी मिल सके तो यह मानना पड़ेगा कि वनों को आम आदमी की जरूरतों को भी पूरा करना है। पर अगर वन विभागों ने अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं किया तो वात केवल एक ही खाने में नहीं रह जाती। आयोग ने स्पष्ट कहा है कि वन विभागों ने यह दुर्भाग्यपूर्ण गलती की है कि वनीकरण की योजनाएं वनाते समय उन लोगों का ध्यान नहीं रखा जिनकी रोजी-रोटी वनों के कच्चे माल या फल या लकड़ी से चलती थी। वन विभागों ने न तो उनका अपनी योजनाओं के वनाने में, और न ही उनके

ने खेत वानिकी (फार्म फारेस्ट्री) की योजना पर भी विचार किया। फार्म फारेस्ट्री की जो सरकारी परिभाषा स्वीकृत हो चुकी है उसके अनुसार इसका अर्थ होता है "खेतों और गांवों की शामिलात जमीनों पर वनीकरण की उन तमाम विधाओं को अपनाना जो खेती के आयोजनों के साथ-साथ पूरक के रूप में चल सकती है।" पर इस योजना की पड़ताल के बाद आयोग ने देखा कि जो योजना इस नाम से चलायी जा रही थी या जिसे चलाने का प्रयत्न किया जा रहा था वह वस्तुतः प्रसार वानिकी (एक्स्टेंशन फारेस्ट्री) थी। पहले तो किसान या साधारण जन इस प्रकार के नामों और उसके अर्थों के पचड़े में नहीं पड़ना चाहता। दूसरे जिस प्रकार इनका कार्यान्वियन प्रारंभ हुआ उसमें जन साधारण को साथ ले चलने की कोशिश भी नहीं हुई। जिस प्रकार एक साथ बहुत सी योजनाएं अलग-अलग नामों से आयीं उनसे भ्रम ही अधिक बढ़ा। इन योजनाओं को चाहे अंग्रेजी नाम से पुकारा जाता अथवा उनका हिंदी रूपांतर होता आम आदमी के लिए कोई फर्क नहीं पड़ने वाला था क्योंकि यह सब विदेशी अवधारणाएं थीं और उन्हीं नामों और अर्थों में उन्हें उतारने का प्रयत्न किया जा रहा था। सामाजिक वानिकी से संबद्ध अंतरिम रिपोर्ट में में फार्म फारेस्ट्री, एक्सटेंशन फारेस्ट्री, रिक्रियेशन फारेस्ट्री आदि जिन योजनाओं का जिक्र है उनके हिंदीकरण की आवश्यकता भी नहीं थी। यदि उनका हिंदीकरण होता भी तो भी वे उतने ही अपरिचित नाम होते जितने अंग्रेजी नाम थे। वस्तुतः इन योजनाओं का जिनसे संबंध रहा है वे या तो संबद्ध विभागों के सरकारी कर्मचारी हैं या इन विषयों के विशेषज्ञ। समाज के सामान्य जन की चाहे वह ग्रामीण क्षेत्र के हों अथवा नागर क्षेत्र के हों उन्हें न तो अंग्रेजी नाम और न इनके हिंदी रूपांतर, दोनों में से कोई भी छू नहीं सका। इसके अलावा इन योजनाओं के अधीन जो भी काम हुए वह सब एक दूसरी योजनाओं के कामों और उनके उद्देश्यों से इतने भिन्न नहीं थे कि उनकी अलग-अलग पहचान बनती। उदाहरण के लिए प्रसार वानिकी में वह सब क्रियाएं सम्मिलित कर ली जाती हैं जिनमें खेतों की मेड़ों पर या खेतों में, गांव की बंजर भूमि पर या पंचायतों के अधीन छोड़ी जमीनों पर, सड़कों, नहरों, रेल की पटरियों के किनारे की जमीनों पर पेड़ लगाये जाते हैं। यही काम बहुत कुछ फार्म फारेस्ट्री के अधीन भी किया गया। यह भी बहुत सफल नहीं हुई क्यों कि आयोग के सामने जो तथ्य आये उनसे यह स्पष्ट हो रहा था कि इस प्रक्रिया के अधीन देश के सभी भागों में समान रूप से काम नहीं हो रहा था और जो हुआ भी था उससे उन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को कोई आर्थिक लाभ नहीं मिल रहा था। मिल भी नहीं सकता था। पेड़ों की रक्षा के जो कानून बने हैं उनके चलते पहले तो कोई आदमी पेड़ लगाना ही नहीं चाहेगा और लगाना भी चाहे तो उन घनी आबादी वाले प्रदेशों में जहां खेत का आयतन अत्यंत छोटा और मेंड़े नहीं के बराबर हैं वहां इच्छा रहते हुए भी ऐसा करना संभव नहीं है। सरकारी कागजों में शामिलात, बंजर और पंचायती जमीनों के जो आंकड़े उपलब्ध हैं वह कायम मुकाम जमीनों से बिल्कुल भिन्न है। मौके पर या तो जमीनें हैं ही नहीं या हैं तो दूसरे कामों में

लायी जा रही हैं।

आयोग ने तव सामाजिक वानिकी (सोशल फारेस्ट्री) की वात उठायी और फार्म फारेस्ट्री अथवा एक्स्टेंशन फारेस्ट्री से भेद दिखाने के लिए यह स्पष्ट किया कि जहां फार्म फारेस्ट्री का उद्देश्य जलावन या छोटी इमारती लकड़ी पैदा करने तक सीमित था वहां सोशल फारेस्ट्री का आयाम वड़ा है और उसके अधीन ग्रामीण क्षेत्रों की उन सभी जरूरतों को शामिल करने का उद्देश्य निहित है जिनके विना उनकी समृद्धि भी गतिशील नहीं हो पा रही थी और पेड़ों की वृद्धि भी नहीं हो रही थी। इन जरूरतों में चरागाहें वनाना, घास और चारे का उत्पादन करना, हदवंदी के लिए कांटेदार झाड़ियों का उत्पादन करना, और फसल को आंधी के आतंक से वचाना भी सम्मिलित कर लिया गया। इसी के साथ नागरिक समुदाय को मनोरंजन की सुविधा प्रदान करना भी आवश्यक माना गया। इस प्रकार इन सव जरूरतों को पूरा करना वनीकरण का उद्देश्य मानकर "सोशल फारेस्ट्री" की, जिसका अब प्रचलित नाम सामाजिक वानिकी है, परिकल्पना की गयी। इस प्रकार सामान्य जन और किसानों के सामने तीन नाम या योजनाएं तीन रूपों में आयीं। पर वास्तविकता क्या थी ? प्राय: नाम भेद, और एक और अधिक उद्देश्य को जोड़कर इस वात का फिर ध्यान नहीं रखा गया कि इनमें लोगों के सहयोग की जो आधारशिला है वह कहां है। एक के वाद दूसरी योजना नये नाम से आती रही, कुछ पेड़ लगते रहे पर समाज, जिसको ध्यान में रखकर सामाजिक वानिकी नाम रखा गया, अलग खड़ा रहा। सामाजिक वानिकी का प्रयोग प्राय: सारे भारतवर्ष में हो रहा है। केंद्रीय शासन और प्रादेशिक सरकारों द्वारा इस पर प्रभूत धन भी खर्च किया जा रहा है। वन विभाग इस कार्य की महत्ता का ढिंढोरा पीटते नहीं थकते। पर सामाजिक वानिकी से समाज अलग नि:संकल्प खड़ा है। यह सत्य प्रत्यक्षत: देखा जा सकता है। अगर सामाजिक वानिकी समाज के लिए है तो उससे कटा हुआ वह नि:संग क्यों है ? समाज में कुछ व्यक्ति या कुछ संस्थाएं जरूर ऐसी हैं जो सामाजिक वानिकी का उद्देश्य समझने की कोशिश करते हुए इस ओर प्रवृत्त हैं पर उन थोड़े से व्यक्तियों और संस्थाओं से ही पूरा समाज तो नहीं वनता। वे सामाजिक चेतना का प्रतीक भी तभी वन सकती है जव समाज में उनकी व्याप्ति हो और वे इसे एक सामाजिक आंदोलन का रूप देने में समर्थ हों। पर वस्तुस्थिति इससे भिन्न है।

गत वर्ष अर्थात् 1983 में 21 मार्च को विश्व वानिकी दिवस मनाया गया। इस देश में भी मनाया गया। उत्तरप्रदेश में भी। इस अवसर पर अधिकारी विशेषज्ञों ने और शासन से संवद्ध गण्यमान लोगों ने भी वनों के महत्त्व पर प्रकाश डाला। कुछ चर्चा अखवारों में भी हुआ। यह माना गया कि हमारी संस्कृति और सभ्यता के [illegible] में वनों का वड़ा महत्त्व है। उन्हें पर्यावरण सुधार और पारिस्थितिकीय [illegible] भी आवश्यक माना गया। उन्हें जीवन से भी जुड़ा माना गया। यह भी [illegible] गया कि वे हमारी ऐसी सम्पदा हैं कि जिनका न केवल विनाश [illegible] उन्हें पुनर्जीवित करने का भी उद्योग करना चाहिए। वनों को [illegible]

जल संचारण और संरक्षण के लिए भी जरूरी समझा गया। इस अवसर पर इस बात की भी स्वीकृति हुई कि उत्तरप्रदेश में वन कहे जाने योग्य वन इस प्रदेश के केवल 17 प्रतिशत भूभाग पर ही स्थित हैं। इनकी सनातनता और चिरंतनता की भी बात कही गयी। इस बात पर भी प्रकाश डाला गया कि वनीकरण की कौन-कौन-सी योजनाएं चलायी जा रही हैं। इन योजनाओं की सफलता के लिए आम आदमी और गैर सरकारी संस्थाओं के सहयोग की भी जरूरत समझी गयी। योजनाओं में जहां अन्य प्रमुख बातें बतायी गयीं वहीं यह भी बताया गया कि सड़कों के किनारे वृक्ष लगाने का मुख्य उद्देश्य पथिकों को छाया प्रदान करना, फल प्रदान करना तथा वायु एवं ध्वनि प्रदूषण को रोकना है। साथ ही स्थानीय लोगों को उनसे लकड़ी, चारा और ईंधन उपलब्ध कराना भी है। परिवेश का सौंदर्य तो अंतर्मुक्त था ही। विश्व वानिकी दिवस को सामाजिक वानिकी की प्रयोजनाओं का जिक्र करने का भी अवसर मान कर उस संदर्भ में भी यह बतलाया गया कि जहां-जहां यह प्रयोजनाएँ चलायी जा रही हैं अथवा चलायी जायेंगी वहां के ग्राम वासियों को अपने काम और जरूरत का ईंधन, चारा पत्ती, फल फूल और घरेलू उद्योग चलाने में मदद मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह कि फिर से वही सब बातें कही गयी जो आज से दशकों पूर्व कहना शुरू की गयी थीं पर इन योजनाओं को बनाते समय कभी उन लोगों से राय नहीं ली गयी जिनके हित की बातें इतने ऊंचे स्वर में दुहराई गयीं। जब इस प्रकार की बातें वानिकी और सामाजिक वानिकी की बात करते हुए अधिकारी व्यक्तियों और आयोगों द्वारा कही जायेंगीं तो स्वाभाविक है कि ध्यान उस ओर जायेगा जिधर से वनों और वृक्षों से आम आदमी को, उन सब लोगों को, जो वनों के किनारे बसे हुए हैं लाभ मिलने की संभावनाएं खुलती हैं। पर जो हो रहा है वह सब यदि इसके सर्वथा विपरीत नहीं तो इतना तो नहीं ही हो रहा है जो राह चलने वालों और वनों के किनारे बसने वालों, या पेड़ लगाने में रुचि रखने वालों को आकृष्ट कर सके।

रेल के किनारे लगाए जाने वाले पेड़ों को सभी यात्री देखते होंगे। सड़क पर सफर करने वाले सड़कों के किनारे लगाये जाने वाले पेड़ों को देखते हैं। सड़कों पर लगे पेड़ों का एक तुलनात्मक दृश्य भी सामने आता है। नयी सड़कों पर नए पेड़ और पुरानी सड़कों पर पुराने और नये पेड़ दिखायी पड़ते हैं। पुराने पेड़ों में आम, जामुन, महुआ, पीपल, नीम, बरगद, ढाक कुछ ऐसे नाम हैं जिन्हें लोग आसानी से पहचान सकते हैं। फसल के दिनों में इसके नीचे बालकों, स्त्रियों और पुरुषों को, आम, महुआ और जामुन बीनते देखा जा सकता है। पर आज जो नए पेड़ लग रहे हैं उनकी जो भी शास्त्रीय उपयोगिता हो आम आदमी को उनसे जुड़ता नहीं देखा जा रहा है। छाया प्रदान करने की ही बात ले ली जाय। पुराने पेड़ जिनके नाम ऊपर लिए गए हैं उनके नीचे तो जेठ की दुपहरी भी आराम से बितायी जा सकती है पर इयुकिलिप्ट्स के नीचे क्या मिलता है? पीपल और बरगद पर भांति-भांति के पक्षी बसेरा लेते हैं किंतु इस पेड़ पर किसी पक्षी को घोंसला लगाते किसने देखा है? क्या इसकी पत्ती चारे के काम भी आ सकती

है ? जब भी वनीकरण और सामाजिक वानिकी की बात की जाती है, ऐसे बहुत से प्रश्न उठते हैं और देखा जाता है कि इन योजनाओं को बनाने वालों और इनसे लाभ लेने वालों के बीच खाई बढ़ती जा रही है। क्या इसे कम करने का कोई उपाय है? इस प्रश्न का उत्तर भी इन्हीं आयोगों ने ही दिया है पर शायद उनकी बात भी उनके दस्तावेजों और फाइलों में रखी रह जाती है और योजना बनाने वाले अपना काम अपने ढंग से इन नामों के साथ अपने को जोड़कर करते रहते हैं।

अभी तक जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनसे गांवों और वनों का रिश्ता, वनों और नागरिकों का संबंध, वनीकरण की समस्या और खेती, तथा वनीकरण को लेकर भिन्न-भिन्न रूप की अवधारणाओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इन सब बातों को एक साथ देखने से जहां स्थिति कुछ स्पष्ट होती है वहीं उलझती भी है। उलझन की बात कई कारणों से पैदा हुई है। एक तो मिलते-जुलते उद्देश्यों को लेकर अलग-अलग नामों से एक ही प्रकार की कई योजनाएं चलायी गयीं। वस्तुतः ये योजनाएं अलग-अलग थीं। अगर ये सब योजनाएं अलग-अलग न होतीं तो इनका अलग नाम भी न होता। लेकिन अपने देश में इनको व्यावहारिक रूप देने के लिए अनुकूल परिस्थितियां नहीं थीं। सामाजिक परिवेश और भू-भौगोलिक आधार तथा प्रबुद्ध और प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं के अभाव ने भी इन्हें असफल बनाया है और एक दूसरे के साथ तालमेल बैठने में अड़चन पैदा की।

कृषि आयोग के सामने जो विचारणीय विषय थे उनमें यह भी कहा गया था कि "वानिकी के विकास में, जिसमें फार्म फारेस्ट्री सम्मिलित है, कृषि विकास को उसका एक निहित तत्त्व मानते हुए और उसे निर्यात से संबद्ध उद्योगों तथा पारिस्थितिकीय संतुलन को बनाए रखने में समर्थ और स्थानीय जनजातियों के एक बड़े समुदाय को रोजगार देने के उद्देश्य सम्मिलित माने जायेंगे। आयोग ने इससे पहले अपने उत्पादन वानिकी (प्रोडक्शन फारेस्ट्री) की अंतरिम रिपोर्ट में भी यह आश्वासन दिया था कि वह सामाजिक वानिकी पर अलग से रिपोर्ट प्रस्तुत करेंगे। ज़ाहिर था कि उनके सामने सोशल फारेस्ट्री अर्थात् सामाजिक वानिकी का विशेष महत्त्व था और वह उसे ऊपर गिनायी गयी योजनाओं से अलग योजना के रूप में स्पष्ट करना चाहते थे। आयोग ने इस संबंध में जो कुछ कहा है उससे तो यही लगता है कि उनकी दृष्टि में यह या तो इन सबसे भिन्न एक अलग अवधारणा है अन्यथा इन सभी अवधारणाओं के कुछ आवश्यक तत्त्व उसमें ले लिए गए हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक वानिकी पर कुछ अपनी ओर से कहने के पहले उसके उस अधिकृत और सरकारी रूप को ही संक्षेप में देख लिया जाये जिसका प्रतिपादन इस रिपोर्ट में हुआ है।

सन् 1970 में सामाजिक वानिकी पर जो अंतरिम रिपोर्ट प्रकाशित हुई उसके परिप्रेक्ष्य में देखने पर सामाजिक वानिकी वह प्रक्रिया है जिसमें फार्म फारेस्ट्री, एक्सटेंशन फारेस्ट्री नष्ट हुए या होते हुए वनों को पुनर्जीवित करने और रिक्रियेशन फारेस्ट्री के उद्देश्य सम्मिलित हैं। आयोग का कहना था कि जब फार्म फारेस्ट्री की योजना बनाई

गयी तो उसका उद्देश्य लकड़ी के नए स्रोत उत्पन्न करना था और साथ ही खेतों में तथा शामिलात जमीनों पर लगे पेड़ों की कटान को रोकना था। तकनीकी शब्दावली कोष में फार्म फारेस्ट्री की जो परिभाषा दी हुई है उसको उद्धृत करते हुए आयोग ने बताया कि फार्म फारेस्ट्री वानिकी की वह प्रक्रिया है जिसमें वानिकी के सभी पक्ष शामिल होते हैं और जो खेतों में तथा गांव की शामिलात जमीनों पर लागू की जाती है और जिसे कृषि फार्म के साथ एकीकृत कर दिया जाता है। पर आयोग के विचार में इस योजना के तहत जो कार्य हुआ उसे फार्म फारेस्ट्री न कह कर एक्टेंशन फारेस्ट्री कहना चाहिए था क्योंकि फार्म फारेस्ट्री को अंतर्मुक्त रखते हुए इस योजना के अधीन वे सब कार्य किए गए जिनके द्वारा कृषि भूमि, गांवों की बेकार और बंजर भूमि. सामुदायिक वन क्षेत्र, सड़कों के किनारे की भूमि, और रेल की पटरियों के दोनों ओर की जमीन पर पेड़ लगाए गए। "किंतु फार्म फारेस्ट्री या एक्सटेंशन फारेस्ट्री ने सभी प्रदेशों में एक समान प्रगति नहीं की।" यह देखने की बात है कि एक ही स्थान पर आयोग के विचार में फार्म फारेस्ट्री और एक्सटेंशन फारेस्ट्री अलग योजनाएं भी हैं और उपलब्धियों का जायजा लेते समय आयोग फार्म फारेस्ट्री या एक्सटेंशन फारेस्ट्री को समीकृत करता हुआ-सा भी जान पड़ता है। यदि ऐसा न भी माना जाय तो भी उसकी राय में दोनों अलग योजनाएं हैं यह तो निर्विवाद है ही। आयोग ने इसी संदर्भ में राय जाहिर करते हुए यह भी कहा कि जहाँ प्रगति अच्छी हुई उन प्रदेशों में भी यह विधि उस अवधारणा से पूर्णतः उद्भूत नहीं हुई जिसमें वनों या वन वृक्ष समूहों से भौतिक लाभ और सामाजिक मूल्यों की स्थापना का भाव निहित है।" इससे यह और भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक वानिकी पर विचार करते हुए आयोग के मन में इससे मानव समुदाय को भौतिक सुख साधन भी जुटाना था और उसके मन में कुछ सामाजिक मूल्यों का चित्र भी स्पष्ट करना था। सामाजिक वानिकी के संदर्भ में सामाजिक मूल्यों का क्या अर्थ है या होना चाहिए इस पर आगे विचार किया जाएगा।

आयोग ने सामाजिक वानिकी की आवश्यकता का कारण बताते हुए लिखा है कि फार्म फारेस्ट्री या एक्स्टेंशन फारेस्ट्री में जलावन की लकड़ी और कुछ हद तक इमारती लकड़ी उपलब्ध कराने का प्राविधान तो था लेकिन कृषक समुदाय की इनके अतिरिक्त भी जो आवश्यकताएं हैं उनकी आपूर्ति इन योजनाओं में नहीं हो रही थी। इन अतिरिक्त आवश्यकताओं के उदाहरण स्वरूप उन्होंने चरागाहों की स्थापना, चारे और घास का उत्पादन, कृषि भूमि की रक्षा के लिए कांटेदार झाड़ियों का उगाना आदि दिया है। इसके अतिरिक्त नागर जीवन व्यतीत करने वाले मानव समुदाय के मनोरंजन की आवश्यकता पर भी जोर दिया है। उनकी राय में यह सब सामाजिक आवश्यकताएं हैं और इनकी पूर्ति वनों से होनी चाहिए। पर फार्म फारेस्ट्री या एक्स्टेंशन फारेस्ट्री में इनकी पूर्ति के उद्देश्यों का अभाव था। आयोग की राय में मानव समुदाय की इन आवश्यकताओं की कुछ पूर्ति या तो उनके कृषि भूमि अथवा शामिलात जमीनों पर उगे वृक्षों से होती है अन्यथा संरक्षित और सुरक्षित वनों से। चूंकि मानव आबादी तेजी से

वढ़ रही है और उसी अनुपात में उसकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध करने कराने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है अतः सुरक्षित और संरक्षित वनों के वृक्षों को ही इसका आघात सहना पड़ा और गांव के आस पास और कृपि भूमि पर खड़े पेड़ों का तो सफाया ही हुआ जान पड़ने लगा है। इस प्रकार वनस्पतिविहीन भूमि चटियल भी हुई और भूक्षरण की गति को और तीव्र किया।

आयोग ने स्पष्टतः माना कि जो सुरक्षित और संरक्षित वन आवादी के पास खड़े हैं या पहले थे उनमें गांव वालों को जलावन और इमारती लकड़ी प्राप्त करने के अधिकार से इन वनों पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। इस वात के भी आधार मिले कि इन अधिकारों की आड़ में चोरी या अनधिकृत रूप से इन वनों से इमारती और जलावन की लकड़ी की तिजारत नागर क्षेत्रों के निवासियों में होती रहती है। इसका दुरुपयोग इन वनों में इतना वढ़ गया कि वहुत से मूल्यवान लकड़ियों के सुरक्षित और संरक्षित वन साफ हो गए। लेकिन आयोग इस वात को भी स्वीकार करता है कि वन विभागों के अधिकार में व्यवस्थित वनों से पड़ोसी क्षेत्रों के निवासियों को जलावन और इमारती लकड़ी देना समाज सेवा माना जाना चाहिए। निदान वन विभाग द्वारा वनों के कुछ भाग इस प्रकार नियोजित और व्यवस्थित होने चाहिए कि वे सामाजिक वानिकी के इन उद्देश्यों को पूरा कर सकें। उनकी राय में यह आवश्यक जान पड़ा कि वन विभाग संरक्षित और सुरक्षित वनों के शहरो से लगे हुए क्षेत्रों में जल्दी उगने वाले ऐसे वृक्षों का रोपण प्रारंभ करे जिनकी लकड़ी इमारत और जलावन के काम आती हो और जो इस वढ़ती हुई मांग को पूरा कर सके और ये वन मूलतः इसी कार्य के लिए उगाए जायें। इन विचारों से भी जो एक वात वहुत ही स्पप्ट रूप से उभर कर सामने आती है वह यह कि सामाजिक वानिकी का संवंध समाज की कई प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करना ही है। दूसरी वात जो ध्वनित होती है वह यह कि सुरक्षित और संरक्षित वनों में स्वयं-जात अथवा ऐसे वृक्षों को ही पोपण मिलना चाहिए जो पर्यावरण और पारि-स्थितिकी का संतुलन वनाये रखने के अलावा वन्य जीवों के निसर्ग निवास भी वन सकें। आयोग का स्पप्ट मत था कि चरागाहों की स्थापना, चारा उत्पादन की योज-नाओं और किसानों की अपनी जमीनों में, शामिलात जमीनों पर ऊसर और वंजर पड़ी भूमि में तथा आवादी के नजदीक उजड़े हुए वन क्षेत्रों में वनीकरण और वृक्षों के उत्पादन से वढ़ कर शायद ही ऐसा कोई कार्यक्रम हो जिसका सामाजिक और आर्थिक महत्त्व ग्रामीण निवासियों और वन व्यवस्था के लिए अधिक हो। इनसे न केवल ग्रामीण आवास व्यवस्था, खेती के कार्य और कृपि उत्पादन में तथा खेतों की घेरवाड़ के लिए आवश्यक झाड़ियों के उत्पादन में मदद मिलेगी वरन् सुरक्षित और संरक्षित वनों की व्यवस्था को भी आशातीत लाभ होगा। आयोग ने उपर्युक्त रायों को प्रकट करते हुए यह भी माना है कि जलावन और इमारती लकड़ी की आवश्यकता का सही अनुमान और आंकड़े उपलब्ध न होने के कारण इस प्रकार के वनीकरण की योजनाओं को वनाने में कठिनाई जरूर आ सकती है फिर भी उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर उन्होंने अनुमान

लगाया था कि सन् 1980-1990 के बीच केवल जलावन की लकड़ी की जरूरत लगभग 556 मिलियन क्युबिक मीटर पड़ेगी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए लगभग 256 मि० क्युबिक मीटर तो जंगल विभाग से और 300 मि० क्युबिक मीटर गैर इलाकों से उपलब्ध स्रोतों से करना पड़ेगा।

इन विचारों को उपस्थित करने के बाद आयोग ने सामाजिक वानिकी के उद्देश्यों को इस प्रकार निश्चित किया है :

1. ग्रामीण क्षेत्रों को जलावन की पूरी लकड़ी उपलब्ध करना ताकि वे गोबर को जलाने के काम में लाना बंद कर दें।
2. छोटी इमारती लकड़ी उपलब्ध कराना।
3. चारा उपलब्ध कराना।
4. कृषि क्षेत्र को आंधी से त्राण देना और
5. मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराना।

इन सब उद्देश्यों को आयोग ने समाज की आधारभूत आवश्यकताएं माना है और कहा है कि इनके पूरा होने पर ही उनकी आर्थिक, सामाजिक स्थिति सुधरेगी और मानव समाज उन्नत जीवन बिता सकेगा।

इसी रिपोर्ट में उन्होंने आज जो कुछ हो रहा है उसकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है और कहा है कि चूंकि सामाजिक वानिकी एक बहुआयामी कार्यक्रम है अतः उसके अंतर्गत फार्म फारेस्ट्री या एक्स्टेंशन फारेस्ट्री, नष्ट होते हुए वनों को पुनरुज्जीवित करना, तथा मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराना सभी शामिल करने पड़ेंगे। इस थोड़े से विस्तार में आयोग की राय और संस्तुतियों का जिक्र करना इसलिए आवश्यक था कि एक तो सामाजिक वानिकी पर स्वतंत्र विचार हो सके तथा दूसरे उसे फारेस्ट फार्मिग या वन खेती जिसका जिक्र ऊपर नहीं किया गया है उससे अलग रखा जा सके। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाये कि सामाजिक वानिकी में ऊपर गिनाई गयी योजनाओं के आवश्यक तत्वों के वर्तमान होते हुए भी वह इन योजनाओं से भिन्न हैं। भिन्नता की बात पर तो अब अलग से कुछ कहने की जरूरत नहीं रह जानी चाहिए। वन खेती या फारेस्ट फार्मिग पर भी यहां कुछ नहीं लिखा जायेगा। पर उसका नाम यहां इसलिए ले लिया गया है कि यह स्पष्ट हो जाये कि वह योजना भी सामाजिक वानिकी से भिन्न है। कम से कम आयोग के सामने वह योजना विचाराधीन नहीं थी। अतः अब केवल सामाजिक वानिकी ही बच रही जिस पर आयोग द्वारा उपस्थित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए स्वतंत्र विचार करना संभव हो सकता है।

कृषि आयोग ने सामाजिक वानिकी को स्पष्ट करते हुए कई शब्द, कई अवधारणाएं, कई उद्देश्य सामने रखे और सामाजिक वानिकी को एक वृहत्तर अवधारणा बताया। इस वृहत्तर अवधारणा के केन्द्र में मानव समुदाय है चाहे वह नागर क्षेत्र का हो अथवा ग्रामीण क्षेत्र का।

समाज व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं है। वह व्यक्तियों के कुछ विशेष आदर्शो

और संबंधों के आधार पर बनता है। अतः जहां आयोग ने सामाजिक मूल्यों की बात कही है वहां उनका संकेत मानव मूल्यों से स्पष्ट है। जो अवधारणाएं सामने रखी गयी हैं उनको समझने के लिए कुछ शब्दों और उद्देश्यों का सहारा लिया गया। उदाहरण के लिए फार्म फारेस्ट्री को ही लें इसमें "फार्म" शब्द का प्रयोग हुआ है। अंग्रेजी का "फार्म" शब्द आम आदमी, विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों में "फारम" हो गया है। पर यह देखने की बात है कि शासन की नीतियों ने "फार्म" छोड़े ही कितने ? जिसे फार्म कहा जाता है उसके अधिकारी, संख्या में भारतीय कृषकों की संख्या के मुकाबिले नगण्य हैं। फारम कहने से आम आदमी के सामने जो चित्र उपस्थित होता है उसमें कृषि योग्य भूमि का एक बड़ा रकबा होता है, उसमें सिंचाई के साधन के रूप में ट्यूबवेल भी लगा होता है। अगर वह पूरी तरह घेर बाड़ से सुरक्षित न भी हुआ तो भी उसमें कुछ पेड़-पौधे, जिनमें फलदार वृक्ष होते हैं, खड़े दिखाई देते हैं। उसमें शाक सब्जी का भी प्राविधान होता है। इन साधनों सुविधाओं से युक्त कृषि क्षेत्र को "फारम" कहा जाता है। पर ऐसे फारम कितनों के पास होते हैं। साधारण किसान के पास तो केवल खेत होते हैं। खेत में खेती करते वाला किसान "फार्म फारेस्ट्री" न समझता है और न समझने की कोशिश करेगा। अगर इसकी जगह "खेती फारेस्ट्री" कहा जाता तो यह एक हंसी उत्पन्न करने वाला ऊटपटांग शब्द समूह होता। कुछ सहज करने के लिए इसे "खेती वानिकी" बनाया जा सकता था जो "वन-खेती" से समीकृत हो जाता। फार्म फारेस्ट्री और वन खेती जिसे अंग्रेजी में फारेस्ट्र फार्मिग कहा जाता है दो अलग अलग अवधारणाएं हैं। वन खेती पर यहां कुछ लिखना अप्रासंगिक होगा। अतः जो हुआ वह यही कि फार्म के अभाव में फार्म फारेस्ट्री भी गयी। वह सामान्य किसानों द्वारा अपनायी ही नहीं गयी। जो कुछ और जहां भी इसके कुछ नमूने देखने को मिलेंगे वह सब सरकारी प्रभाव क्षेत्र में शासन के पैसे से। यही कारण है कि आयोग को भी स्वीकार करना पड़ा कि इस प्रयोग में आशा के अनुरुप सफलता नहीं मिली।

फार्म फारेस्ट्री और एक्स्टेंशन फारेस्ट्री को एक और कारण से भी सफलता नहीं मिली। थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाये कि साधारण किसान भी फार्म या "फारम" से अपने खेत का ही बोध करता है। यदि ऐसा भी होता तो भी अब खेत भी खेत नहीं रह गये। खेतों की दशा चकबंदी के बावजूद खराब होती गयी। चक बने, चक रोडें बनी, खेतों की मेड़ों में भी सुधार का प्रचार हुआ पर फिर चक टूटे, चक रोडों का इस्तेमाल या तो बहुत कम हुआ या वे फिर से बगल को खेतों में जोत ली गयी। खेतों की मेड़े नट के रस्से के समान रह गयीं अगर ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति तो होगी पर उन्हें बचाने के लिए पड़ोसी किसानों को जिस तनाव की जिंदगी बसर करनी पड़ती है वह वही जानते हैं। अन्य प्रदेशों की बात तो नहीं की जा रही है पर उत्तर प्रदेश में ही अब तक चार बार चकबंदी हो चुकी और आज यह सतत प्रक्रिया भी बन गयी है। इसका मूल कारण भी आबादी की वृद्धि ही है। हर घर में बच्चे एक

से अधिक पैदा होते ही जा रहे हैं। बड़े होने पर पढ़ाई-लिखाई के अभावों और पढ़ लिख लेने के बाद भी अन्य रोजगार या नौकरी न मिलने पर खेती का ही सहारा लेना पड़ता है। खेती इस देश में सदियों से जीवकोपार्जन का सहारा ही मात्र बनकर रहती चली आ रही है। इसे उद्योग के रूप में चलाने का न तो कभी प्रयत्न हुआ और न आज हो रहा है। जब जमींदारियां थीं और लोगों के पास सैकड़ों और हजारों एकड़ खेत थे तब भी खेती उद्योग नहीं बन सकी। उसने प्रभूत अन्न दिया। पर वह उसके उत्पादक जमींदारों के ऐश आराम के काम आया। उसके द्वारा खेत मजदूरों का शोषण होता रहा। इन बड़े जमींदारों की बड़ी-बड़ी जोतों पर काम करने वाले मजदूर बेघरबार ही रहे। अधिकांश बंधुआ रहे जिनके अवशेष अब भी हैं। अब जब जमीन का बंटवारा हुआ और उन सबको जमीनें दी गयीं जो जमीन से आये दिन बेदखल किये जाते थे या जिनके पास कभी जमीन थी ही नहीं तो वे इस योग्य नहीं रह गये कि खेती की बुनियाद को समझ कर पकड़ सकें। एक छोटी-सी मिसाल काफी होगी। फार्म फारेस्ट्री में खेतों की मेंड़ों पर या खेत में पेड़ उगाने की सलाह दी गयी। ऐसे उदाहरण तो कुछ दक्षिणभारत में या कुछ पंजाब हरियाणा में मिल जायेंगे जहां किसानों ने गन्ने या दूसरी फसलों के साथ सफेदा या इक्यूलिप्टस के पेड़ लगाये और उससे अपनी आय में वृद्धि की। ऐसे भी उदाहरण दक्षिण भारत के कई स्थानों पर मिलेंगे जहां अनुपजाऊ भूमि पर खेती करने के बजाय कैजूरीना की खेती की गयी और उससे खाद्यान्न के मुकाबिले अधिक पैसा मिला। पर इतने बड़े देश में ऐसी मिसालें समुद्र का क्षारपन को दूर करने के लिए एक लोटा दूध डालने जैसी हैं। आज भी किसान खेत के पास खड़े पेड़ से चौंकता है। उसका यह अन्धविश्वास जहां का तहां जमा है कि पेड़ की छाया में उसकी फसल से अच्छी पैदावार नहीं होगी। यह अर्धसत्य भी हो तो भी वह उसे अपनाने को तैयार नहीं। उसको अपने अतीत का वह दृश्य सदा सर्वदा के लिए भूल गया है जो मुगल शासन के पूर्व के भारत का था। जब अन्न की खेती और पेड़ों की साझेदारी बनी हुई थी। जब ऐसे पेड़ खेतों गांवों और गांव के बाहर उपवनों कुंजों और निकुंजों के रूप में खड़े थे जिन पर नाना प्रकार के पक्षी निवास करते थे, जो समयसमय पर खेती को नुकसान पहुंचाने वाले कीड़ों को खाते रहते थे। पर यह सब कहते हुए यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि तब भारत की आबादी बहुत कम थी। जमीन अधिक थी और पशुओं की संख्या भी उतनी ही थी जितने को भारतीय किसान स्वस्थ और सुंदर रख सकता था। आज जमीन पर दबाव बेहद बढ़ गया है। कल क्या होगा और इस शती के अंत में क्या होगा इसकी कल्पना ही की जा सकती है जब आबादी 70 करोड़ से बढ़कर 111 करोड़ हो जायेगी। यही असफलताएं एक्स्टेंशन फारेस्ट्री को मिलीं और इन्हीं कारणों से उजड़ते वनों की जमीन पर पुनः वनीकरण की योजना को भी कारगर नहीं बनाया जा सका। उजड़े और उजड़ते वनों की तो बात अलग है सुरक्षित वनों के भीतर गैरकानूनी तौर पर जमीन कब्जा करके खेती करने के नक्शे उत्तरप्रदेश में बहुतायत में देखे जा सकते हैं।

फार्म फारेस्ट्री फार्म न होने के कारण और एक्स्टेंशन फारेस्ट्री खेती के लिए जमीन की बढ़ती हुई कमी के कारण किसी के भी पल्ले नहीं पड़ी और यह विभागीय कर्मचारियों का मनबहलाव और सरकारी रुपये का अपव्यय बनकर रह गये। यही हाल सामाजिक वानिकी का भी होगा क्योंकि इस योजना का आधार या मूल तत्त्व समाज है जो अब वानिकी के लिए या तो नष्ट हो चुका है या उसके लिए अपेक्षित समाज का अस्तित्व ही नहीं रह गया है। उस समाज से क्या अपेक्षा की जा सकती है जिसके बच्चे और तरुण किसी भी वृक्ष पर फल पकने से पहले ही उसे तोड़कर नष्ट कर देते हैं, जिसके सदस्य होली आने पर हरे-हरे पेड़ों की न केवल शाखें वरन् तरुण पेड़ों को समूल उखाड़कर अग्निदाह कर देते हैं। जब संस्कारों की इतनी कमी हो जाय कि फूल खिलने तक न पायें, पेड़ उगने न पायें तो उससे वानिकी को क्या सहायता मिलेगी। सामाजिक वानिकी शासन द्वारा नहीं चलायी जा सकती क्योंकि उसके साथ समाज जुड़ा है और यह पूरी योजना समाज के हित के लिए ही है। अतः इस योजना को कार्यान्वित करते समय पहले समाज पर विचार करना आवश्यक है। यह जरूरी है कि समाज के हितों को स्पष्ट कर दिया जाये। उनके स्वार्थ को पहले सुरक्षित कर लिया जये और वन विभाग को स्पष्ट कर दिया जाये कि समाज के हितों से बाहर सामाजिक वानिकी का कोई स्थान नहीं है।

यह समाज है क्या जिसके लिए सामाजिक वानिकी की योजना चलायी जा रही है। समाज व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं है। समाज यदि व्यक्तियों का समूह मात्र होता तो उसे झुंड कहना अधिक उचित है और तब उससे पाशविक आचरण के अतिरिक्त अन्य किसी बात की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है। बावजूद इसके कि आज भारतीय समाज व्यक्तिशः पाशविक स्तर पर ही उतर आया है पर हम इतने से ही निराश नहीं हो सकते। पानी का स्वभाव नीचे की ओर ही जाना है। वही उसकी स्वाभाविक गति है। पर जब हम उस पर थोड़ा दबाव डालते हैं तो वह ऊपर की ओर भी उठता है। मानव स्वभाव भी निरंतर दबाव की अपेक्षा रखता है। यद्यपि समाज शास्त्र के ऋषियों ने ऐसी कल्पना कर रखी है कि एक समय ऐसा आ सकता है जब मानव स्वभाव स्वतः ऊर्ध्वगामी हो जायेगा। उसे किसी प्रकार के दबाव की, बाहरी दबाव की, अर्थात नियम संयम की आवश्यकता नहीं रह जायेगी पर तब उस स्थिति में पहुंचने पर मानव समाज को राजसत्ता की भी आवश्यकता नहीं रह जायेगी। वह उत्तर कुरु होगा। पर अभी तो जो है, उसी को ध्यान में रखकर बातें करनी होंगी।

हमारा आज का समाज स्वार्थों के सहारे बना है। मूलतः ये स्वार्थ-परार्थ को ध्यान में रखकर निश्चित किये गये हैं। परार्थभावहीन स्वार्थ, समाज की संरचना में सहायक हो ही नहीं सकते और स्वार्थों के अभाव में समाज संगठित नहीं हो सकता। जो एक का अधिकार है वह दूसरे का कर्तव्य है। विचार करने पर इस प्रक्रिया द्वारा अपने ही कर्तव्य से अपना अधिकार भी मिलता है। क्योंकि सबके कर्तव्य और अधिकार समान होने पर ही साम्यवाद या समाजवाद की धारणा स्पष्ट होती है। अतः सामाजिक

वानिकी की योजना में भी समाज का अधिकार और कर्तव्य होने चाहिए। इसको स्थिर कर देने के बाद ही वानिकी या वनीकरण की योजना को इस प्रकार प्रचोदित करना होगा कि वह समाजोन्मुखी होकर समाज की ओर बढ़े। तभी समाज आगे बढ़ कर उसे अपनायेगा और अपने हितों की रक्षा के लिए उसकी रक्षा करेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो जब वानिकी पर समाज का अधिकार होगा और समाज पर वानिकी का, तभी दोनों एक दूसरे के प्रेरणादायक हो सकेंगे। केवल सरकारी कर्मचारियों के बल पर चलायी जाने वाली सामाजिक वानिकी असामाजिक तत्वों के हाथ की वह खिलौना बनी रहेगी जो रोज टूटेगी और जिसे रोज बनाना पड़ेगा। इन्हीं स्वार्थों को स्पष्ट करने के लिए आयोग ने सामाजिक वानिकी के उद्देश्यों को निर्धारित करते समय जलावन और इमारती लड़की तथा पशुओं के चारे की बात भी कही और अंधड़ से त्राण तथा मनोरंजन का प्रश्न भी उठाया। पर इन स्वार्थों की विस्तार से व्याख्या होनी चाहिए और इस बात पर भी विचार होना चाहिए कि इसका निर्णय कि किसको कितनी जलावन और कितनी इमारती लड़की की आवश्यकता है कौन करेगा।

आयोग ने पहले ही कह दिया है कि ग्रामीण क्षेत्रों के लिए जलावन और इमारती लकड़ी की पूर्ति का अनुमान लगाने के लिए सही आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। यहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अभी भारत में एक भी नगर ऐसा नहीं है जहां काम की तलाश में जाने वाले ग्रामीण आवास की असुविधा का सामना करते हुए खाना पकाने के लिए प्रायशः लकड़ी का ही व्यवहार करते हैं। जो भी हो, बहरहाल स्थिति यही है कि लकड़ी का उपयोग जलावन के लिए किया जा रहा है। जब उद्देश्य यह है कि लकड़ी का उपयोग तो जलावन के लिए हो, गोबर का नहीं, तो लकड़ी की खपत बढ़ेगी ही। घटेगी नहीं। ऐसी स्थिति में जलावन के काम आने वाली लकड़ी के वन कहां लगें। ऐक्सटेंशन फारेस्ट्री की बात करते समय आयोग ने बंजर भूमि, पंचायती भूमि और शामिलात जमीनों का जिक्र किया है। इस संदर्भ में जो प्रश्न सबसे पहले शासन को अपने से ही पूछना चाहिए वह यह कि क्या कोई ऐसा सर्वेक्षण हुआ है जो कृषि और वनों से बाहर की भूमि के उपयोग का सही चित्र उपस्थित करता हो? क्या राजस्व विभाग, वन विभाग, पंचायत विभाग के एतद्संबंधी आंकड़ों में कोई तालमेल है? यदि नहीं तो मानना पड़ेगा कि इन कामों के लिए जो जमीन कागजों में उपलब्ध है वह जमीन पर उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि आवश्यकता की पूर्ति के आंकड़े उपलब्ध हो भी जायें तो भी उन आवश्यकताओं के अनुरूप वनीकरण का क्षेत्र निश्चित नहीं किया जा सकता। दोनों नदी के दो किनारों के समान अलग-थलग पड़े रहेंगे।

दूसरी कठिनाई जो दुर्जेय भी हो सकती है और सामाजिक वानिकी के लिए भयावह भी, वह यह कि यदि सरकारी कर्मचारियों को आपूर्ति या आवंटन का अधिकार दे दिया गया तो यह सारी योजना उत्कोचपीड़ित होकर मर जायेगी। लेकिन सरकारी विभाग और शासन तो रहेगा। तब क्या कोई इनमें साझेदारी और इनकी क्रियाशीलता में समन्वय लाया जा सकता है? कई अन्य देशों में इस दिशा में कुछ प्रयोग हुए हैं।

उनकी ज्यों की त्यों नकल करना तो शायद उपादेय न हो पर उनको आधार बनाकर और अपने परिवेश और समाज की मानसिकता, आर्थिक स्थिति और आवश्यकता को देखते हुए यहां भी वैसे प्रयोग किये जा सकते हैं। सामाजिक वानिकी के लिए जो भी क्षेत्र निश्चित किये जायें और जहां के वनों से जलावन और इमारती लकड़ी लेने का अधिकार समाज को दिया जाये वहां का वनीकरण और उनके लिए आवश्यक पौध-शालाओं की व्यवस्था का भार भी उस क्षेत्र के समाज को ही दिया जाये। इसके अति-रिक्त कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जिनके पास अपनी जमीनें बिल्कुल न हों या जो गांव या समाज या पंचायत के सदस्य न हों। दूसरे शब्दों में नागर क्षेत्रों के निवासी हों पर सामाजिक वानिकी से लाभ उठाना चाहते हों। ऐसे व्यक्तियों को नकद रुपया लगाकर वृक्ष उगाने का अधिकार दिया जाये। जिस प्रकार बैंकों में एक निश्चित अवधि के लिए रुपया जमा करने पर 10 प्रतिशत या अधिक सूद मिलता है उसी प्रकार ऐसे व्यक्तियों को भी वार्षिक सूद की सुविधा और पेड़ों की किस्म के आधार पर पांच, दस, पंद्रह और बीस वर्षों के अंतराल से कुछ पेड़ इनके उपयोग के लिए दिये जायें। इनका व्यावहारिक रूप विचार विमर्श के बाद निकल सकता है।

वनीकरण में समाज की रुचि उत्पन्न करने के लिए कुछ विशेष रंगीन वृत्तचित्र बनाये जाने चाहिए जिनमें वनस्पतियों, विशेषकर उन वृक्षों, लताओं और गुल्मों की पहचान करायी जाये जिन्हें सामाजिक वानिकी में स्थान दिया जाने वाला हो। इनके गुण दोष का भी सरल भाषा में विवेचन हो और इनके देशी नामों से आम आदमी को बखूबी परिचित कराया जाये। इन वृत्त चित्रों के माध्यम से सतत और व्यापक शिक्षा इतनी अधिक दी जाये कि लोग अपने आसपास खड़े पेड़ों और दूसरी वनस्पतियों को पहचानने लगें। इतना ही नहीं उनमें पहचानने की लालसा भी उत्पन्न की जाये। इसके लिए टेलीविजन और सचित्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रतियोगितायें भी आयोजित हों तथा अच्छे पुरस्कार भी दिये जायें। कुछ प्रदर्शनियां भी आयोजित हों तथा उत्पादन के लिए नागर क्षेत्रों में मिस्ट चैंबर अर्थात पानी की बारीक फुहार से सिंचित होने वाली पौध-शालाएं सरकार की ओर से कायम की जायें जिन्हें लोग आसानी से देख और समझ सकें। जब तक वनस्पतियों के प्रति अगाध प्रेम और उनके साहचर्य से होने वाले भौतिक और आध्यात्मिक सुख का अनुभव सर्वसुलभ नहीं कराया जायेगा तब तक सामाजिक वानिकी के लिए समाज की मानसिकता नहीं बन पायेगी। यह संस्कार ही नहीं उत्पन्न

यदि ऐसे कार्यक्रम को सफल बनाना है तो एक बात जो जरूरी जान पड़ती है वह यह कि वनीकरण के कार्यक्रम को राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग देखा जाये। राष्ट्रीय स्तर की आवश्यकताओं और संभावनाओं के क्षेत्रीय स्तर की आवश्यकताओं से केवल नामों के आधार पर समीकृत न कर दिया जाये। उदाहरण के लिए सामाजिक वानिकी को ही लें। यह राष्ट्रीय स्तर की आवश्यकता है। इसका मूल स्वर उन विशाल वनों को इस प्रकार नियोजित करने से स्पष्ट होता है जहां वन स्वयं चलकर आबादी के किनारे ही क्यों, कभी-कभी नगरों के भीतर तक प्रवेश पाना चाहते हैं। नागरिकों को चाहे वह ग्रामीण क्षेत्रों के हों अथवा नागर क्षेत्रों के हों अपने भीतर प्रवेश पाने की सुविधा प्रदान करना चाहते हैं, चाहते हैं कि वे आकर उनके विभिन्न वृक्षों को देखें, उन्हें समझें और उनसे होने वाले लाभ की जानकारी प्राप्त करें। सामाजिक वानिकी की सार्थकता उनके द्वारा दी गयी अखंड सामाजिकता में है जहां वृक्ष, पशु और मनुष्य का साहचर्य बनता है। सामाजिक वानिकी को क्षेत्रीय योजना के रूप में लेना गलती करना है। वह उस रूप में कभी सफल नहीं होगी। क्षेत्र रूप में जो योजना सफल होगी और जिसे ही इस स्तर पर चलाना चाहिए वह वन खेती है। प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी बार-बार वन-खेती की बात कहती हैं। वन-खेती न तो "सोशल फारेस्ट्री" है और न फार्म फारेस्ट्री। वह फारेस्ट फार्मिंग का हिंदी रूप है। वन-खेती क्षेत्रीय स्तर पर क्रियान्वित की जाने वाली योजना की अवधारणा को बखूबी स्पष्ट करती है। आज के संदर्भ में इसकी अत्यंत आवश्यकता है। यह "वन खेती" ही ऐसी विधा है। जिसमें आज की उत्पन्न बहुत-सी समस्याओं का बहुत कुछ समाधान मिलता है।

वन्य जीव हमारे मित्र हैं

भरत जिनके नाम पर कहा जाता है कि इस देश का नाम भारत पड़ा उनके बारे में यह कथा भी सब जानते हैं कि वह बचपन में शेर के बच्चों के साथ खेला करते थे और कभी-कभी उनके मुंह को खोलकर उनकी दाढ़ भी खींचते थे। राम का जिस दिन राजतिलक होने वाला था उसी दिन उनको वनवास मिला। वनवास तो वनवास ही होता है। जंगल कभी घना कभी घनघोर घना। जिन जंगलों में राम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण के साथ चौदह बरस रहे उनका हाल राम कथा लिखने वाले कवियों ने बताया है। राम कथा लिखने वाले सबसे पहले कवि वाल्मीकि थे। उन्होंने इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि जिन जंगलों में राम गये उनमें नाना प्रकार के पक्षी, किस्म-किस्म के हरिण, बड़े-बड़े शेर और बाघ, चीते और भालू रहते थे। जंगली पेड़ों की अनगिनत किस्में थीं। वे इतने घने थे कि उनके नीचे बारहों महीने छाया और ठंडक रहती थी। उनके बीच से बहने वाली नदियों का पानी उनकी हरी-हरी पत्तियों की छाया से गहरे हरे रंग का मालूम होता रहता था।

इन्हीं जंगलों में रहते हुए एक दिन जब राम एक हरिण के पीछे दूर निकल गये और सीता के कहने से भाई की सहायता के लिए लक्ष्मण को भी जाना पड़ा तो अकेला पाकर रावण सीता को उठा ले गया। रास्ते में उसकी भेंट जटायु नाम के एक बड़े गिद्ध से हुई। सीता को रोती देखकर जटायु समझ गये कि रावण उन्हें जबर्दस्ती ले जा रहा है। राम और सीता को न जानते हुए भी गलत काम होते हुए जटायु नहीं देख सके। उन्होंने रावण को ललकारा, उनसे लड़ाई की, और सीता को छुड़ाना चाहा। पर रावण बलवान था। जटायु मारे गये। इधर जब राम लौटकर अपनी कुटी पर आये तो सीता को न देखकर बहुत घबराये। उन्होंने पहले तो आसपास ही खोज की। जब उन्हें सीता कहीं नहीं मिलीं तो उन्हें शक हुआ कि या तो उन्हें कोई जानवर खा गया या कोई उन्हें उठा ले गया। पर जानवरों पर से उनका शक तुरंत जाता रहा। क्योंकि जंगल में रहते हुए सभी तो उनके मित्र बन गये थे। सभी उनको प्यार करने लगे थे और सभी से उनको प्यार हो गया था। तभी तो उन्होंने अपने दुख में रास्ते में मिलने वाले हाथियों से, शेर और बाघों से, मृगों से, यहां तक कि पक्षियों से भी, सभी से पूछना कर दिया कि सीता कहां गयी? उनके इस प्रकार, सीता की खोज में, पेड़ पौधों

पशु पक्षियों से बार-बार पूछते रहने का बड़ा रोचक वर्णन कवियों ने किया है। एक जगह वाल्मीकि ने लिखा है कि राम ने बड़े-बड़े मृगों को अपनी ओर बार-बार देखते रहने पर लक्ष्मण से कहा कि लक्ष्मण मुझे ऐसा लगता है कि ये मृग मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। मैं इनकी चेष्टाओं को समझ रहा हूं। इसके बाद राम ने उन मृगों की ओर मुड़कर पूछा था कि बताओ सीता कहां है? तब वे मृग एकाएक उठ खड़े हुए और आसमान की ओर देखते हुए दक्षिण दिशा की ओर दौड़े। तभी राम को यह अंदाज लगा था कि सीता को कोई राक्षस आकाश मार्ग से दक्षिण की ओर ले गया है। वे भी उसी ओर गये और अंत में उन्हें जो सफलता मिली उसकी कहानी सभी को मालूम है।

थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि यह कथा बहुत पुरानी हो गयी और कवियों के अतिरिक्त इस प्रकार की बात और किसी ने नहीं लिखी हैं। किंतु आज के ज़माने में भी बहुत साल पहले अखबारों में एक खबर पढ़ी थी। एक महिला अपने दुधमुंहे बच्चे को अपनी लुगड़ी में एक पेड़ के नीचे सुलाकर खेत में काम कर रही थी। थोड़ी देर बाद पास के जंगल से एक शेर आया। वह बच्चे के पास से निकल रहा था। बच्चे को देखकर रुका और उसे सूंघा। शायद उसकी मूंछों से बच्चे को गुदगुदी लगी हो। वह खिलखिला उठा। उसकी आवाज सुनकर मां का ध्यान उसकी ओर गया। शेर पर नजर पड़ते ही वह चिल्ला पड़ी। पर शेर न तो उसकी ओर दौड़ा और न उसने बच्चे को ही उठाया। वह मंथर गति से अपनी राह चला गया। निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि उसके मन में उस समय क्या भाव थे। पर जब उसने शत्रुवत् व्यवहार नहीं किया तो वह शत्रु नहीं था। बहुत कहें तो कह सकते हैं अमित्र था। पर देखा जाये तो उसमें मित्र भाव ही था। भरत का शेर के बच्चों के साथ खेलना पौराणिक कहानी बन गयी है। ऊपर की इस कहानी में भी अखबारों के साक्ष्य के अतिरिक्त और कोई विश्वसनीयता नहीं। अभी कुछ दशक ही बीते हैं। कुछ और बीत जाने पर भले ही यह कहानी भी मिथक बन जाय पर सच्चाई यही है कि हिंस्र पशु भी अकारण शत्रुवत् व्यवहार नहीं करते। इसका अनुभव और प्रत्यक्ष अपने दीर्घकालीन वन्य जीवों के आखेट में मुझे पदे-पदे हुआ है। एक ही पेड़ के गुद्दे पर जिसे साधुभाषा में मोटी डाल कहा जाता है मेरे एक मित्र ने एक भालू के साथ रात बितायी थी क्योंकि वर्षा के कारण जमीन पर रहना दोनों के लिए निरापद नहीं था। मेरे मित्र तो पहले से ही विराजमान थे। उनके सोते हुए भालू भी वहीं आकर शरण ले रहा था। मित्र भाव से ही दोनों ने रात काटी होगी। इस ढंग की एक पुरानी कथा भी है। रात में व्याघ्र से बचने के लिए एक पेड़ पर एक राजकुमार चढ़ गया था। उस पर रात बिताने के लिए एक भालू भी बैठा था। भालू ने कहा हम बारी-बारी से सोयेंगे। मैं जब सोऊंगा तो तुम मेरी रक्षा करना और जब तुम सोओगे तो मैं रक्षा करूंगा। पहले राजकुमार सो गया। व्याघ्र ने भालू से कहा कि यह मनुष्य है, विजातीय है, इसे नीचे धकेल दो। इसे खाकर मैं चला जाऊंगा। भालू ने कहा कि यह मेरा मित्र है। मैं ऐसा नहीं कर सकता। इसके बाद भालू सो गया। तब व्याघ्र ने राजकुमार से कहा। यह भालू है। पशु

है। सबेरा होने पर आक्रमण करेगा। तुम इसे धकेल दो। मैं इसे खाकर चला जाऊंगा। यहां तक तो कहानी परस्पर मित्र भाव का परिचय देती रही। पर आगे का भाग मनुष्य के चरित्र पर बड़ा भारी लांछन लगाने वाला है। कथा के अनुसार राजकुमार ने भालू को धकेलने की कोशिश की पर भालू जग गया और पेड़ पर ही संभल कर बैठ गया। उसने राजकुमार से कहा कि तुमने मित्रता का निर्वाह नहीं किया। मित्र के साथ विश्वासघात करना अच्छी बात नहीं। कहानी आगे बढ़ती है। पर यहां इस संदर्भ में इतना ही पर्याप्त होगा कि यदि ऐसे मित्र भाव के उदाहरण न मिलते होते तो ऐसी कहानियां भी न बनी होतीं।

एक बार हम रामगंगा के किनारे कार्बेट नेशनल पार्क में जंगली जानवरों पर एक फिल्म बना रहे थे। मेरे साथ मेरी पत्नी और मेरे एक मित्र भी थे। हम तीनों आराम करने की गरज से एक जगह बैठे हुए थे। इतने में एक जंगली तोता उड़ता हुआ आया और सामने के एक सूखे पेड़ की एक छोटी-सी टहनी पर बैठ गया। हम तीनों ही उसकी ओर देखने लगे। हमारे मन में न तो उसे पकड़ने का भाव जगा और न उसे भगाने का। वह कुछ देर तक कुछ बोलता रहा। हम भी खुश-खुश उसकी ओर देखते रहे और उसकी सुंदरता और निडर होने का बखान करते रहे। शायद तोता भी हम लोगों को अपना दोस्त समझने लगा। अब वह न केवल तरह-तरह की बोली बोलता रहा बल्कि तरह-तरह से अपनी गरदन और आंखें घुमाकर हमारा मन भी मोहता रहा। जब इससे भी उसका मन न भरा तो उसने अपने दोनों पंजों में एक पतली टहनी पकड़ ली और ऊपर से नीचे चक्कर काटने लगा मानों हमें सरकस दिखा रहा हो। थोड़ी देर बाद वह उड़ गया और हमारे मन में हमेशा के लिए दोस्त होने का भाव छोड़ गया।

अभी मैंने कार्बेट नेशनल पार्क का नाम लिया। अपने प्रदेश में कई पार्क और कई सैंक्चुआरियां हैं। सैंक्चुअरी को हिंदी में शरण्य कहते हैं। पुरानी किताबों में भी उन जंगलों को जहां पशु-पक्षी मारे नहीं जाते थे शरण्य कहते थे। यह नाम बहुत अच्छा है। जहां सबको शरण मिले वह शरण्य ही तो होगा। पार्क और शरण्य में कई फर्क हैं पर जो बात साफ दिखाई देती है और जो दोनों के भेद को स्पष्ट करती है वह यह कि पार्क में पशुओं को तो नहीं ही मारा जा सकता पेड़ भी नहीं काटे जाते। वहां पेड़-पौधे पशु-पक्षी सभी सुरक्षित रहते हैं। यहां तक कि पार्क का कुछ हिस्सा तो इस प्रकार अलग रखा जाता है कि उसमें किसी को भी जाने की इजाजत नहीं दी जाती। पार्क में ऐसे भी बिना इजाजत नहीं जाया जा सकता। पर सैंक्चुअरी याकि शरण्यों में—जिसे कुछ जगहों पर पशु-विहार भी कहा जाता है—पेड़ों की कटान हो सकती है और आदमियों के जाने की मनाही होने पर भी सामान्यतः रोक नहीं होती। पर वहां भी किसी प्रकार का हथियार लेकर जाना सख्त मना होता है। फोटो खींचने का कैमरा ले जाया जा सकता है।

उत्तर प्रदेश में दो पार्क हैं। कार्बेट और दुधुआ। कार्बेट पार्क नैनीताल जिले में पड़ता है और दुधुआ खीरी जिले में। कार्बेट का क्षेत्रफल 525 वर्ग किलोमीटर है और

दुधुआ का 490। गढ़वाल कमिश्नरी में दो और पार्क बनने जा रहे हैं। एक तो फूलों की घाटी में और दूसरा नंदादेवी। सैंक्चुअरी अथवा शरण्य कुल मिलाकर बारह हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं : गोविंद पशु विहार, केदारनाथ, मोतीचूर, राजाजी, चिल्ला, किशनपुर, रामपुर, चंद्रप्रभा, कतरनिया घाट, महावीर, राष्ट्रीय चंवल और कैमूर। इन सबको मिलाकर देखें तो अपने प्रदेश में छः हजार तीन सौ नौ वर्ग किलोमीटर के जंगलों में पशुओं की सुरक्षा का प्रबंध है। पर इसे अधिक नहीं मानना चाहिए। यदि हमें अपने बाद पशुओं की इस राष्ट्रीय संपत्ति की रक्षा करनी है और अगर सनातन से चली आती इस विरासत को बचाना है तो इस क्षेत्रफल को कम-से-कम तिगुना करना पड़ेगा।

अपने प्रदेश में एक और अच्छा काम हो रहा है। घड़ियाल और मगर ये दो जानवर पानी के हैं। इनकी तादाद भी कम होती जा रही थी। अतः इन्हें सुरक्षित स्थान में पैदा करके इनकी बढ़ती करने की योजना भी बनाई गई है। अब तक बारह सौ घड़ियाल पैदा करके उनमें से 500 चंवल और गेरुआ नदी में छोड़े गए हैं। इसी प्रकार पहाड़ों के बहुत ऊपरी हिस्सों में कस्तूरी मृग जिन्हें आम भाषा में कस्तूरा भी कहते हैं खतम हो रहा था। चोर, शिकारी और चोर बाजारी करने वाले सौदागरों के बुरे कामों का ही यह नतीजा था कि अपने देश का यह बेशकीमती और सुंदर जानवर प्रायः समाप्त हो गया था। अब इन्हें भी सुरक्षित करके इनकी तादाद को बढ़ाने की योजना बनाई जा चुकी है। यह योजना चमोली जिले के कंचुला खड़क स्थान पर चलाई जा रही है। आशा की जाती है कि यदि यह सफल हो गयी तो हमारे नौजवानों को कस्तूरी मृग देखने को मिल जाएगा। सारे जंगली जानवर चाहे वह चौपाये हों या कि सांप जैसे सरकने वाले हों अथवा पक्षी हों हमारी अर्थात् मनुष्य जाति की कई प्रकार से मदद करते रहते हैं। हर मदद करने वाला दोस्त कहा जाता है पर कुछ तो हमारे ऐसे मित्र हैं कि अपनी जान देकर भी हमारा हित ही कर जाते हैं। यह सब मर कर जमीन में सड़ जाते हैं तो जमीन तो उपजाऊ बना जाते हैं। कई प्रकार के कीड़े ऐसे होते हैं जो जमीन के अंदर रहते हुए जमीन को उपजाऊ बनाते रहते हैं। इनमें से एक को तो प्रायः सभी ने देखा होगा जिसे हम केंचुआ कहते हैं। इन्हीं जानवरों में कई ऐसे होते हैं जो जंगलों को बेवजह गंदा होने से बचाते रहते हैं। इस प्रकार के चौपाये पशुओं में लकड़बग्घा सबसे अधिक कारगर है। पक्षियों में गिद्ध इस काम को बड़ी मुस्तैदी से करते हैं।

यों तो जीव का आहार जीव भी होते हैं। मांस खाने वाले जानवर घास खाने वाले जानवरों को मार कर खाते रहते हैं। कभी-कभी मांस खाने वाले बड़े जानवर छोटे मांसाहारी जानवरों को भी खा जाते हैं। पर इनमें आपस में भी मित्रता होती है और यह मनुष्य के भी मित्र होते हैं। मनुष्य के मित्र पशुओं में घोड़ों और कुत्तों की अनगिनत मिसालें हैं। पर शाकाहारी जानवरों में परस्पर दोस्ती की एक मिसाल दिलचस्प है। जंगल में बंदरों और हिरन जाति की एक किस्म जिसे चीतल कहते हैं उनमें बड़ी दोस्ती होती है। दोनों ही जंगलों में रहते हैं। एक पेड़ों पर रहता है दूसरा पेड़ों के नीचे। पेड़ों के नीचे चीतलों का झुंड देखते ही बनता है। वह जंगल में घास चरता हुआ

पेड़ों के नीचे-नीचे चलता रहता है। उनके ऊपर डालों ही डाल बंदर उनके साथ-साथ चलते रहते हैं। जहां कहीं भी ऐसे फलदार वृक्ष मिलते हैं जिनके फलों को चीतल भी पसंद करते हैं उन्हें बंदर तोड़ कर उनके लिए नीचे गिराते चलते हैं। बंदरों और चीतलों की इस मैत्री को मैंने वहुत देखा है और देखकर बड़ा आनंद पाया है। इनके इस अद्भुत् मैत्रीभाव का परिचय केवल खाने-खिलाने में ही नहीं मिलता। यह इनके दुख के भी साथी होते हैं। बंदर डालों पर वैठा दूर से ही शेर या गुलदार को आता देख लेता है। उन्हें देखते ही शोर मचाकर चीतलों को और सभी दूसरे जानवरों को चौकन्ना कर भाग जाने में वड़ी मदद करता रहता है।

पशु आदमियों के साथ एक और प्रकार से भी अपनी दोस्ती अदा करते हैं। यह मानव समाज के लिए संतुलित पर्यावरण वनाये रखने में वड़ी मदद करते हैं। कोई पूछ सकता है कि यह संतुलित पयर्वारण क्या है और इसका क्या महत्व है। वहुत कम लोगों का ध्यान इन बात की ओर जाता है कि जव पृथ्वी पैदा हुई और जव उस पर जीव पैदा हुए और पेड़ पौधे हुए तो इसके पहले केवल पानी था। अतः पृथ्वी, पानी, पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं का—जिनमें आदमी भी शामिल है—एक प्राकृतिक अनुपात वना। एक के अधिक वढ़ने से दूसरे का नुकसान भी होना था और उस जीव मंडल में, जिसके कारण हमारा पर्यावरण वनता है, गड़वड़ी भी पैदा होती। जैसे आज आदमी की आवादी में वेशुमार वढ़ती होने के कारण न केवल उसकी गरीवी वेहद वढ़ गयी है वरन् उसको साफ हवा पानी देने वाले जंगल भी गायव होते गये हैं। जव जंगल गायव हो गये तो उनमे रहने वाले वहुत किस्म के पशु भी गायव हो गये, मर गये। वहुत से ऐसे भी जानवर थे जिन्हें हमने देखा भी नहीं था या जिन्हें देखने समझने का मौका भी नहीं मिला और वे मर गये। जव वह थे तव ऐसे पेड़-पौधे भी थे जिसके सहारे ही वह जी सकते थे। उलटकर कहें तो वहुत से ऐसे पेड़-पौधे होते हैं जिनके न रहने पर उनके सहारे रहने वाले जीव-जन्तु भी नहीं रह जाते। और इन दोनों के न रहने पर हमारा वह पर्यावरण विगड़ जाता है जो हमारे स्वास्थ्य के लिए, हमारे सुख के लिए, हमारी गरीवी को हमसे दूर रखने के लिए, वहुत जरूरी होता है।

अपने देश में भी और कई अन्य देशों में भी आदमी को इसका कुपरिणाम, वुरा नतीजा, भोगना पड़ रहा है। एक वहुत छोटी और साधारण मिसाल वहुत वड़े पैमाने पर देखी जा सकती है। वहुत से जंगलों के कट जाने पर उनके ऐसे वहुत किस्मों के पेड़ भी कट गये जिन पर वे चिड़ियां वसेरा लेती थीं जिनका मुख्य भोजन कीड़े होते थे। खासकर वह कीड़े जो हमारी खेती को नुकसान पहुंचाते थे। अव जव न वह पेड़ रहे और न वह पक्षी तो इन कीड़ों को नष्ट करने के लिए आदमी को अपनी खेती वचाने के लिए कीटनाशक दवाएं वनानी पड़ीं। विना इन दवाओं के खेती नहीं वच सकती थी और इनके वहुत इस्तेमाल से हमारी सब्जियों, फलों और खाने के अन्न पर जहरीला असर पड़ा। ऐसा असर कि उनके प्रभाव में उनकी फसल तो वहीं यानि वढ़ी, पर उनको खाने वालों के शरीर में कई नये प्रकार के रोग यहां तक कि कैंसर जैसा

घातक रोग होने का भी पता चलने लगा है। अब आदमी का ध्यान इस ओर भी जा रहा है कि जब पशु-पक्षियों की तादाद ज्यादा थी, या यों कहें कि जब आदमियों की तादाद इतनी नहीं बढ़ी थी कि वह उस जमीन को भी घेर ले जिन पर कभी घने जंगल खड़े थे और जिनमें कभी नाना प्रकार के जंगली जानवर और पक्षी रहते थे, तो वह बहुत-सी बीमारियों और महामारियों को भी पहले अपने ऊपर झेल लेते थे और मनुष्य को बचा लेते थे या कि मनुष्य बच जाता था।

आदमी की जिंदगी अपने आप में बहुत ही अकेली और नीरस है बावजूद इसके कि उसका अपना समाज है, उसका परिवार है, उसके दोस्त हैं जिनके साथ वह उठता बैठता है बातचीत करता है, और हमसफर होकर जिंदगी गुजार देता है। नाते-रिश्ते चाहे जो भी हों पति-पत्नी के, बाप-बेटे के, पड़ोसी के, याकि कुछ और, सबके भीतर इन रिश्तों के अतिरिक्त एक मैत्रीभाव का भी रिश्ता होता है जो फूल की माला में धागे की तरह पिरा रहता है भले ही फूल कई रंग और कई किस्मों के हों। इस मैत्रीभाव के पहचान न होने पर मनुष्य के सारे संबंध आधे अधूरे बने रहते हैं, और वह सारी जिंदगी अपने निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर जिंदगी के असली रूप को न देख पाता है, न समझ पाता है।

यह मैत्रीभाव या रिश्ता क्या है? क्या यह केवल समानवर्गी जीवों में ही पनपता है या पनपाया जा सकता है? कहने का मतलब यह कि क्या आदमी केवल आदमी का ही दोस्त हो सकता? क्या आदमी अपने से भिन्न वर्गीय जीव को अपना मित्र नहीं बना सकता? यदि भिन्न वर्गीय जीव आदमी का मित्र बनना चाहे तो क्या वह उसे ऐसा करने से विरत करता रहेगा? क्या भिन्न वर्गीय जीव, जिन्हें हम सामान्य: पशु-पक्षी कहते हैं मानव-मैत्री के लिए स्वत: भी लालायित नहीं रहते? याकि केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपने स्वार्थों के लिए कुछ जीवों को पालतू बनाता है और चूंकि वह उसका स्वार्थ साधन करते रहते हैं अत: उनको वह मित्र-पशु कहता है। यदाकदा बहुत उदार होने पर उनके लिए पशु शब्द हटाकर उन्हें केवल मित्र भी कहता है। चूंकि वह पशु उसके पालतू होते हैं और उन्हें चारा-दाना, खाना-पानी देता है और उनकी आरामी बीमारी में उनकी सेवा सुश्रूषा भी करता है अत: क्या इसीलिए उनमें मनुष्य के लिए मैत्रीभाव का उदय होता है? याकि स्थिति उलटी है? अर्थात पशुओं में भी-सजातीयों के अतिरिक्त दूसरे वर्ग के जीवों से मैत्री बनाने की निसर्ग भावना होती है।

मानव-मनोविज्ञान का तो बहुत ही अच्छा और गहरा अध्ययन हुआ है। किंतु मनुष्येतर जीवों के मन के अध्ययन की वैज्ञानिक प्रक्रिया अभी बहुत आगे नहीं बढ़ायी जा सकी है। फिर भी जो कुछ हुआ है उसके आधार पर मनुष्य और मनुष्येतर जीवों के, जिनमें पेड़-पौधे भी शामिल हैं, पारस्परिक संबंधों को स्थिर करने की चेष्टा की गयी है और उनके सम्मिलित पर्यावरण को समझने और संतुलित रखने पर जोर दिया जा रहा है। मनुष्य और मनुष्येतर जीवों के पारस्परिक संबंधों की कहानी बड़ी लंबी है और इसका प्रारंभ करोड़ों वर्ष पहले जब भी इनका उदय पृथिवी पर हुआ तभी से है। ज्यों-

ज्यों मानव सभ्यता का विकास होता गया और उसमें कृत्रिमता और यांत्रिकता का प्रवेश बढ़ता गया त्यों-त्यों मनुष्य अपने विजातीय मित्रों अर्थात पशुओं, पक्षियों और पेड़-पौधों से दूर भी हटता गया और उनकी असली पहचान और उसकी पकड़ मनुष्य के हाथ से छूटती गयी। आज दोनों ही एक दूसरे से अलग-थलग और ज्यादातर मैत्री-भाव के स्थान पर विरोध भावना से ग्रसित होकर जीवन बिता रहे हैं।

आज जब पर्यावरण और पारिस्थितिकीय संतुलन को फिर से बनाने का चर्चा जोर पकड़ रही है तब भी संरक्षण की बात अलग-अलग ढंग से और स्तर से की जा रही है। जब वन्य जीवों के संरक्षण की बात उठती है तो उनकी कुछ गुमशुदा होती हुई किस्मों को चुन लिया जाता है और उनके संरक्षण के लिए न केवल शरण्य बना दिये जाते हैं वरन् कई किस्म के कानून और नियम भी बना दिये जाते हैं भले ही उनका पालन अपवाद बनकर रह जाता हो। जब वनों के तेजी से कटने और तज्जन्य आपदाओं और विपत्तियों की बात उठती है तब "अधिक पेड़ लगाओ" या इनसे मिलते-जुलते नारों की तलाश की जाती है और पेड़ काटने पर रोक के नियम और कानून बन जाते हैं भले ही वे नितांत अव्यावहारिक ही क्यों न सिद्ध होते हों। अधिक पेड़ लगाने की योजनाओं के अधीन सड़कों के किनारे और कुछ ऊसर-परती भूमि पर कुछ पेड़ों की संख्या में वृद्धि हो जाने के बावजूद वनों के क्षेत्रफल में अधिक वृद्धि नहीं हो पा रही है। निदान जिन पशुओं को संरक्षण दिया जा रहा है उनमें से जो मांसाहारी हैं उनकी वृद्धि को उनका विहार-स्थल यदि नहीं संभाल पाता है तब वह बाहर आकर मनुष्यों का आखेट करने लगते हैं और उनके और मनुष्यों के बीच बने रहने वाले मैत्रीभाव के स्थान पर वैर भावना का उदय हो रहा है। इसी प्रकार यदि संरक्षण पाने वाले पशु शाकाहारी हुए तो वह मांसाहारी मनुष्यों के अवैध शिकार का पात्र बनते हैं, यदि यह न भी हो तो भी वनों से बाहर निकल कर उनके खेतों में आ जाने पर वह उनका वैरी बन जाता है। हम मनुष्येतर जीवों में से केवल पशुओं को ही, क्योंकि पेड़-पौधे भी जीव हैं, अपने विचार का विषय बनायेंगे और इस बात को देखने की कोशिश करेंगे कि वह भी हमारे मित्र हैं और अपने प्रति मित्रवत् आचरण की अपेक्षा रखते हैं। पालतू बनना उनका आचरण नहीं है। अतः आदमी को यह समझने की बहुत अधिक जरूरत है कि उन्हें पालतू बनाना मानव धर्म नहीं है। उनके प्रति मैत्रीभाव जगाकर याकि उनके मैत्रीभाव को अपनी ओर अकृष्ट कर उनके साथ सहयोग का संबंध तो बनाया जा सकता है। ऐसा पहले था। यह तब था जिसे हम आज आदिम अवस्था कहकर, याकि प्रागैतिहासिक काल की बातें बताकर, जल्दी से अपने स्वार्थ साधन के काम में जुट जाते हैं। जब यह सहयोग था और जब यह सहयोग की भावना दोनों ओर, यदि समान रूप में नहीं तो प्रायः अधिक उभरी हुई दिखायी पड़ती थी, तब यह साहचर्य के आधार पर बनी थी। सब साथ रहते थे। सबको एक दूसरे की जरूरत थी। देखा जाय तो मनुष्येतर जीवों को मनुष्यों की उतनी जरूरत नहीं थी, याकि बिल्कुल भी नहीं थी, जितनी कि मनुष्यों को मनुष्येतर जीवों की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता ने आदिम सहयोग और साहचर्य पर सबसे पहले कुठा-

राघात किया। जब एक बार हाथ उठा तो उठता ही गया और उठता ही रहा। नतीजा यह हुआ कि एक दूसरे के मन में एक दूसरे के प्रति अविश्वास और भय पैदा हो गया और अविश्वास और भय की इस दीर्घकालीन परंपरा में हमने एक दूसरे की पहचान खो दी। फलतः पशु हमारे मित्र हैं ऐसा सुनने पर बहुतों को सहसा विश्वास न हो तो आश्चर्य नहीं।

पशु हमारे मित्र वैसे ही हैं जैसे कि पेड़ पौधे हमारे मित्र हैं। जैसे कि पेड़ पौधों के मन में हमारे बढ़ते हुए दुर्दिन को देखकर क्षोभ और कष्ट होता है और वह हमें सुखी और सुमन पाकर संतुष्ट और प्रसन्न होते हैं वैसे ही पशु भी। आधुनिकतम शोधों के आधार पर यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि न केवल पेड़ पौधे जीव हैं वरन् उनमें भी राग, द्वेष, सौमनस्य, प्रसन्नता और भय आदि गुणों के चिह्न पाये जा रहे हैं। जब यह लिखा गया कि "बाढ़ी आवत देखकर तरुवर डोलन लाग, हम कम कटे की कछु नहीं गये पंखेरू घर भाग" तब शायद इसके माध्यम से केवल एक शिक्षा, केवल एक संदेश देना ही उद्देश्य रहा हो सकता है। वह यह कि पेड़ों में भी भय की प्रतिक्रिया होती है। पर उन्हीं दिनों जब यह भी कहा गया कि "हित अनहित पशु पक्षिहु जाना" तो बात आगे बढ़ गयी। आज विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि काटने या जलाने की गरज से अपनी ओर आते हुए व्यक्ति को देखकर पेड़ पौधे किस प्रकार भयातुर होकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। (वोगेल) जब पेड़ पौधों का यह हाल है जिन्हें हम हवा से केवल हिलते-डुलते तो देखते हैं पर जिन्हें अपने साथ चलते नहीं देखते तो फिर उनके बारे में, जो हमारे साथ और हमसे अलग रह कर भी हमारी तरह चलते भी हैं और खाना खाते और पानी पीते हैं, यह सोचना कि उनके मन में हमारे व्यवहारों की प्रतिक्रिया ज़रूर उठती होगी असंगत न होगा।

प्रतिक्रिया की बात समझना आसान है। हम सड़क पर या उसकी पटरी पर चल रहे होते हैं। हमारे साथ कोई अजनबी कुत्ता भी चलता होता है। कुछ दूर का रास्ता हम उसे देखे या अनदेखे तै कर चुकते हैं कि यकायक हम उसकी ओर उसे मारने की मुद्रा में हाथ उठा लेते हैं, या घुड़क देते हैं या पांव पटक कर अपने साथ चलने के प्रति विरोध का भाव प्रकट कर बैठते हैं। ऐसा करते ही वह कुत्ता चमक कर दूर जा खड़ा होता है और या तो गुर्राता है या भौंककर अपना प्रतिरोध प्रकट करता है। जब तक दोनों हमराही रहते हैं अजनबी भी रहते हैं। दोनों में मैत्रीभाव भी नहीं रहता है ऐसा मानना भी ठीक होगा। पर साथ ही यह भी मानना ठीक होगा कि दोनों में ही एक दूसरे के प्रति कोई दुर्भावना भी नहीं थी। पर ज्यों ही आदमी कुत्ते को मारने का दुर्भाव अपने मन में जागृत कर उसकी ओर हाथ बढ़ाता है दूसरी ओर भी वही भाव उभर आता है। दोनों एक दूसरे के अमित्र हो उठते हैं। यदि अमित्र बना जा सकता है तो मित्र बनना उससे आसान होना चाहिए।

कुत्ते का उदाहरण मैंने इसलिए लिया कि इससे अक्सर हर व्यक्ति की भेंट हो जाती है। भले ही यह "भले बुरे की पहचान के लिए" ही सड़क पर न बैठा रहता हो

याकि न च्रलता रहता तो पर बहुधा ही मिलता रहता है। पर इसे ही क्यों लें। इसके समान ही कम या ज्यादा संपर्क में आने वाले बहुत से ऐसे पशु भी हैं जिनका व्यवहार जानने समझने के लिए जंगलों में जाना जरूरी नहीं। गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ा, गधा, बिल्ली, नेवला और कई प्रकार के पक्षी और सरीसृप हैं जो हमारे घर, गांव और उसके परिवेश में रोज मिलते रहते हैं। इन जानवरों में से कई ऐसे हैं जो पालतू होने पर हमारे हो जाते हैं अर्थात् उन पर किसी न किसी का एकाधिपत्य या स्वामित्व वन जाता है। पर यह सभी इस अर्थ में हमारे न होने पर भी हमारे परिवेश में रहते हैं अतः इनके साथ हमारी सामाजिकता होती है। सामाजिक परिवेश के ये पशु पक्षी और सरीसृप अपने स्वामी के अतिरिक्त दूसरों के साथ भी यदि द्वे-षभाव नहीं रखते तो इनके अ-द्वेष-भाव से होने वाले व्यवहार को मित्र-भाव जन्य मानना भी अनुचित नहीं। उदाहरण के लिए उस गाय के इस आचरण को क्या कहेंगे जिसने राह चलते एक व्यक्ति को हिंस्र पशु के आक्रमण से बचा लिया था। कुछ लोग इसे एक घटना विशेष कह सकते हैं क्योंकि सब गायें ऐसी परिस्थिति में ऐसा आचरण करती नहीं देखी जाती। पर एक ही गाय सही। जिसने भी ऐसा किया वह गो वर्ग के बाहर तो नहीं। बागों में अक्सर लोग विश्राम के लिए सो जाते हैं। बहुधा ही देखा गया है कि उस सोते हुए मनुष्य की ओर यदि कोई व्यक्ति या जीव आक्रामक भाव से आता दिखायी पड़ता है तो पास में खड़े कुत्ते या कुत्ता भौंकने लगता है। यह उसका मित्रभाव नहीं तो और क्या है ? यहां भी कुछ लोग यह कहते सुने जा सकते हैं कि ऐसी परिस्थितियों में भौंकना कुत्ते का स्वभाव है याकि वह स्वयं अपने बचाव के लिए ऐसा करता है। अपने सवार की रक्षा करने अथवा उन्हें सुरक्षित स्थान तक ले जाने वाले घोड़ों की कहानियां स्वामि-भक्ति पशुओं की कथाओं की श्रेणी में डाल दी गयी हैं। ऐसा मान लिया गया है कि वह अपने प्रति किये गये प्रेम और दीर्घकालीन सेवा का प्रतिदान मात्र होता है। पर मेरी समझ में ऐसा मानना इन पशुओं के प्रति अनादर और अन्याय दोनों ही है। इनमें भी मित्र भावना होती है और पशु भी मित्र हो सकते हैं अतः होते हैं ऐसा मानना अधिक उचित होगा।

घर गांव या मुहल्लों के परिवेश के बाहर जंगलों की सैर करने वालों को इसका अधिक अंदाज होगा। वह असानी से यह मानेंगे कि पशु भी मित्र हो सकते हैं और उनमें मित्र भाव होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मैत्री स्वार्थ से दूर होती है। स्वार्थ और मैत्री परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। दो मित्रों के साथ होने पर मुदिता उत्पन्न होती है। दो अनजाने व्यक्ति भी जब मैत्री भाव से एकत्र होते हैं तो मुदिता का भाव दोनों में ही उदय होता है। इसके लक्षण भी बताये गये हैं। पर अब मुदिता का व्यवहार तो क्या उसका अर्थ भी समाज के चित्त से गायब हो गया है। बोधिसत्व ने अमित्र की पहचान बताते हुए कहा था कि जब दो परस्पर अपरिचित व्यक्तियों के मिलने पर न कोई एक दूसरे को देखकर मुस्कराता है, न प्रसन्न होता है, न उसकी ओर आंख उठाकर देखता है तो उसे अमित्र का ढंग मानना चाहिए। ऐसा व्यवहार मुदिता का भाव न बने रहने

पर ही होता है। मुदिता के रहते हुए मैत्री-भावना को जगाने में, उसे बढ़ाने में सदा सहायता मिलती है। यह केवल मनुष्य मनुष्य की ही बात नहीं है। ऐसा मैत्री-भाव बनाये रखने पर पशुओं, पक्षिओं और मनुष्यों में भी यही स्थिति होती है। कहा भी है कि साथ रहने में मुदिता का भाव बने रहने से चाहे मनुष्य हो, चाहे पशु, हृदय में प्रेम पैदा हो ही जाता है।

कुल मिलाकर देखा जाये तो यह सब जानवर और पक्षी जिन्हें हम वन्य पशु कहते हैं हमारे जीवन के लिए जरूरी हैं। उनकी रक्षा के लिए हमें जंगलों को बचाना पड़ेगा। जंगलों को बढ़ाने से इनकी रक्षा होगी। जंगल पेड़ से बनते हैं। अतः हर गांव की शामिल जमीन पर, हर शहर के नजदीक और आम रास्तों के किनारे खूब घने होने वाले चौड़ी पत्तियों के छयादार पेड़ लगाने चाहिए। भले ही इनसे जंगल का रूप नहीं होगा पर यह हमारे पर्यावरण के संतुलन को बनाये रखेंगे। अब तो यही कारण है कि बहुत से वैज्ञानिक इस नतीजे पर भी पहुंच गये हैं कि अनाज की जगह फलदार पेड़ों की खेती भी होनी चाहिए। यहां यह बात समझ लेनी चाहिए कि फलदार पेड़ों से मतलब सेब, अमरूद और आम के पेड़ों से ही नहीं है। बहुत से पेड़ ऐसे हैं जो पशुओं के चारे के काम आते हैं और उनमें ऐसी फलियां होती हैं जो मनुष्य का भी पौष्टिक आहार बन सकती हैं। अतः यह जरूरी है कि हम पेड़ पौधों और सभी पशुओं पक्षियों की आवश्यकता समझते हुए उनके प्रति मित्रता का आचरण करें। वह हमारे सही माने में मित्र हैं।

वनों पर निर्भरता कितनी

इस प्रश्न का उत्तर एक वाक्य में नहीं दिया जा सकता। पर बात शुरू करने के लिए कोई वाक्य तो कहना ही पड़ेगा। अतः कहना चाहूंगा कि मनुष्य समाज का संपूर्ण जीवन ही वनों पर निर्भर है। पर दुर्भाग्यवश अभी तक मनुष्य समाज नहीं बन सका। किसी देश में भी नहीं। जो देखने में आता है और जिसे हम सामान्यतः मनुष्य समाज की संज्ञा दिए हुए हैं वह किन्हीं विशेष उद्देश्यों के प्रति समान स्वार्थ होने के कारण उनकी सिद्धि में लगा अस्थायी समुदाय मात्र है। अभी तक ऐसा समाज नहीं बन सका है जो संकल्प के साथ बुद्धिमूलक संगठन के रूप में लक्ष्य की एकता को ध्यान में रखकर श्रम और पारिश्रमिक का विभाजन करता हुआ एक के प्रयत्न का दूसरे के प्रयत्न के साथ सहयोग कर रहा हो। जब विज्ञान एक ओर यह सिद्ध कर रहा हो कि रंग विशेष के आधार पर मनुष्य को उत्तम मध्यम या नीच नहीं कहा जा सकता है तब दूसरी ओर, विज्ञान की उपलब्धियों का सहारा लेकर ऐहिक ऐश्वर्य की प्रायशः चरम सीमा तक पहुंचते हुए भी, रंगभेद के आधार पर—यहां तक कि एक ही रंग का होने पर भी अनेक जातियों के आधार पर एक जनसमूह मात्र बन रहा है। इन समूहों के भी अपने अलग-अलग स्वार्थ हैं, अलग-अलग हित हैं। रहते सभी एक ही पृथ्वी पर हैं पर प्रायः वैसे ही जैसे वनों में हिंस्र पशु रहते हैं। एक देश में रहने वाले मनुष्यों का भी अभी तक समाज नहीं बन सका है। केवल समुदाय के रूप में रह रहे हैं। इतना ही नहीं प्रत्येक समुदाय कई विरोधी समुदायों का समूह है। प्रत्येक समुदाय दूसरे समुदायों का विरोधी है। कृषक, व्यापारी, महाजन, मिल मालिक, श्रमिक, दस्तकार, छोटी नौकरी वाले, बड़ी तनख्वाहों के नौकर, सूदखोर, सब समुदाय हैं। सबके स्वार्थ अलग-अलग हैं। प्रत्येक अपने लाभ को ध्यान में रखकर काम कर रहा है। सबका ध्यान रखकर सब नहीं काम कर रहे है। अतः अभी तक सही अर्थों में मनुष्य समाज नहीं बन सका है। तब पूछा जा सकता है कि किस मनुष्य समाज के संपूर्ण जीवन को वनों पर निर्भर कहा जा रहा है।

पर मनुष्य समाज तो बनना ही है। आज नहीं तो कल या परसों। कुछ लोग ऐसा सोचने में, इस प्रयत्न में, कि मनुष्य समाज बने जिसमें परिस्थिति एक-सी हो, सबके प्रयत्न और उद्देश्य ऐसे हों कि जो अलग-अलग काम करते हुए भी एक दूसरे के पूरक हों, और सबके कामों के फल सबके कल्याण में ही लगे हुए हैं। इस प्रकार सबको लिया

कर रंग, जाति, अवस्था और देश भेद से ऊपर उठाकर जिस मनुष्य समाज के निर्माण की कल्पना में कुछ विवेकशील वौद्धिक लगे हुए हैं उसकी संरचना में वन न केवल उदाहरण हैं वरन् उपदेष्टा भी। वह इस वात को वहुत सरलता से, पर वड़े साफ तौर पर, वताते रहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकार का खाना खाते हुए, अलग-अलग ढंग के कपड़े पहनकर भी, लंवाई-मोटाई, शक्ति और सामर्थ्य में अलग-अलग होने के वावजूद, सवको अपने में दूसरे का प्रतिरूप देख पाना संभव है। हम सव एक ही विश्वात्मा के भिन्न रूप हैं। इस चिरंतन सत्य का उद्घाटन वन अपनी संरचना और दूसरे जीवों के प्रति अपने आचरण से स्पष्ट करते रहते हैं। पर हम हैं कि अपने को उनसे अलग रखते हुए वर्ग समूह वनाते रहते हैं और सच्चे मनुष्य समाज की कल्पना करने की पूरी क्षमता रखकर भी अभी तक सही अर्थों में मनुष्य समाज की स्थापना नहीं कर सके हैं। जरूरत है इसके लिए वनों की ओर देखने की, उनके आचरण से शिक्षा लेने की, और उनकी इस सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संपदा पर पूरी तरह विश्वास कर उन पर निर्भर वने रहने की।

एक दूसरे प्रकार से भी हमको वनों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। परस्पर साहचर्य और अन्योन्याश्रय के तात्विक महत्त्व को समझते हुए आत्मनिर्भर कैसे रहा जा सकता है इसकी विवेकपूर्ण प्रक्रिया भी वनों से ही सीखनी पड़ेगी। वनों से लकड़ी मिलती है। लकड़ी जलावन के काम में आती है क्योंकि वह अग्नि उत्पन्न करती है। अत: लकड़ी ऊर्जा है। जहां-जहां भी ऊर्जा की जरूरत होगी वहां-वहां लकड़ी का ही उपयोग होगा, ऐसा नहीं है। हम ऐसा इसलिए नहीं करते कि हमें दूसरे प्रकार की कई और ऊर्जाएं भी उपलब्ध हैं। अत: विवेक से काम लेकर हम ऊर्जा के रूप में लकड़ी का कम से कम उपयोग करते हैं। एक ऊर्जा जो सवकी परिचित ऊर्जा है उसे हम कोयला कहते हैं। विजली भी परिचित ऊर्जा हो गयी है। पर विजली भी पानी, हवा और कोयले से—और अव सूर्य की किरणों के ताप से भी—उत्पन्न होती है। अत: विजली के साथ पानी, हवा और सूर्य भी ऊर्जा के स्रोत हैं। पर पहले कोयले की वात कर लें। वैज्ञानिकों, भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि कोयले की ऊर्जा-निधि अगले सौ या अधिक से अधिक डेढ़ सौ वर्षों में समाप्त हो जायेगी। तव साधारण अग्नि के रूप में जो ऊर्जा वच रहेगी वह लकड़ी ही होगी। लकड़ी अर्थात् वन। वन कभी न समाप्त होने वाली ऊर्जा के प्रतीक है। पर कुछ शर्तों के साथ। यह भी एक तथ्यपूर्ण वात है कि वनों का, उनकी लकड़ी का, उपयोग होना जरूरी है। अगर वनों को कभी भी न काटा जाये तो उनकी वाढ़ रुक जाती है। वैसे ही जैसे मनुष्य एक अवस्था के वाद वढ़ना वंद कर देता है और उसके वाद अशक्त होता जाता है। वैसे ही वह भी वृद्ध होकर कभी न कभी धराशायी होते रहते हैं। नये वनों को, युवा पीढ़ी के वनों को जन्म देने के लिए वृद्धतर होते हुए वनों को कम करते रहना उचित ही है। पर जो वात याद रखने की है वह यह कि हम प्रति वर्ष कितना वन उगाते हैं। उससे भी ज्यादा स्मरण रखने की वात यह है कि हम प्रति वर्ष कितने वनों को प्रौढ़ हो चुके होने का अवसर देते हैं। अत: कटने वाले वनों के

अनुपात में पेड़ लगाना तो जरूरी है ही, उससे ज्यादा जरूरी है कि कटे हुए वनों से अधिक अनुपात में नये लगे वनों को प्रौढ़ होने का अवसर दिया जाता रहे। पेड़ लगा देने के बाद केवल उनकी संख्या गिन लेना आत्मप्रवंचना है। अकाल मृत्यु किसकी नहीं होती। फिर वृक्षों की अकाल मृत्यु के तो अनेक कारण उनके जन्म दिन से प्रौढ़ हो जाने पर भी बने रहते हैं। उन पर मनुष्य का अकारण प्रहार होता ही रहता है। पर इतना सब कुछ होने पर भी ये अर्थात् वन ऊर्जा के अजस्र स्रोत बने रहने की क्षमता रखते हैं। अतः इनका साहचर्य और इनकी उपयोगिता की समझ, इन पर हमारी निर्भरता को भी उतनी ही दीर्घकालीन बना सकती है जितनी दीर्घ-जीविता इनकी रहेगी।

आर्थिक निर्भरता की बात भी देखनी चाहिए। वनों से कई प्रकार के उद्योग चलते हैं। इन उद्योगों से आर्थिक समृद्धि होती है। उन लोगों की भी जो इस उद्योग को चलाते हैं और उनकी भी जो लोग इनमें जीविकोपार्जन के लिए जाते हैं। इस प्रकार की समृद्धि के विषय में यह आपत्ति की जा सकती है कि इससे किसी वर्ग विशेष का ही फायदा होता है। इस प्रकार लाभ उठाने वाले लोग वनों की वृद्धि और रक्षा का उत्तरदायित्व नहीं वहन करते। अतः उनका दृष्टिकोण शोषण का होता है। यह आपत्ति ठीक है और उचित ही इस ओर अधिक सचेष्ट रहने की जरूरत है। केवल शोषण के लिए इन्हें आर्थिक संपदा मानना गलत है। मैं स्वयं आर्थिक दृष्टि से वनों के शोषण का विरोधी हूं। पर यदि इनका संवर्धन और इनकी व्यवस्था इनकी दीर्घजीविता को ध्यान में रखकर करना है तो विवेकपूर्ण दोहन भी आवश्यक है। ये केवल राष्ट्रीय संपत्ति ही नहीं मानव-संपत्ति भी हैं। राष्ट्रीय संपत्ति के रूप में इनकी उपयोगिता की एक सूचना सन् 1968 में डगलस और हार्ट नामक वैज्ञानिकों ने दी थी। उन्होंने कहा था कि अगर प्रत्येक भारतीय प्रतिवर्ष एक पेड़ लगाता रहे और उसकी रक्षा भी करता रहे और अगर यह प्रक्रिया लगातार पांच वर्ष तक पंचवर्षीय योजना के रूप में चलायी जाती रहे तो हर पांचवें साल राष्ट्रीय आय की उतनी वृद्धि होगी जितनी पंचवर्षीय योजनाओं के किसी भी अन्य माध्यम से नहीं हो सकती। इससे वनों के महत्व और उन पर मनुष्य की निर्भरता का अंदाज लगाया जा सकता है।

वन मनुष्यों के भी आदिम ओकस थे। ओकस उस प्रकार के घर को कहते है जिसमें रहने वाला प्राणी सभी प्रकार का निसर्ग सुख प्राप्त करता रहता है। बनावट से दूर रहकर वह ऐहिक और पारलौकिक सुखों को प्राप्त करते रहने की संभावनाओं से भरा पूरा रहता है। आज मनुष्य अपने इस आदिम घर को छोड़कर दूर चला आया है। पर आश्चर्य है कि इतने पर भी वनों ने उसे नहीं छोड़ा है। कम से कम अपनी ओर से छोड़ने की प्रवृत्ति वनों में नहीं देखी जाती है भले ही मनुष्य समय असमय अपने स्वार्थ साधन में उन पर कठोर प्रहार करता रहता है। पर वे हैं कि उसे हर प्रकार से सुखी देखना चाहते हैं। गरीब से गरीब आदमी—जब तक कि वह इस अवस्था को न पहुंच गया हो कि उसे खाने के लिए अन्न ही नहीं मिलता हो—अपने भोजन को पकाता है। उसमें भी लकड़ी ही काम आती है। संसार का सबसे समृद्ध व्यक्ति भी अपने भोजन

के लिए भले ही बिजली या किसी भी अन्य ऊर्जा का प्रयोग करता हो पर उठने-बैठने और सोने के लिए लकड़ी का बना सुंदरतम प्रसाधन ही काम में लाता है, लाना चाहता है। भारत के कई संप्रदाय के लोग तो मरने के बाद भी लकड़ी की ही चिता पर भस्म होना श्रेयस्कर मानते हैं। पर इतनी आत्मीयता होते हुए भी, वनों की उपयोगिता कुछ दूसरे अर्थों में भी ली जानी चाहिए। अपने सुख अर्थात् केवल भौतिक सुख के लिए वनों पर नितांत निर्भर रहना और दूसरे विकल्पों को न ढूंढ़ना गलती होगी। यदि ऐसा ही होता रहा तो वनों से हुई क्षति अपूरणीय हो जायेगी। मनुष्य कंगाल हो जायेगा।

पर्यावरण : भारतीय संदर्भ में

एक वह भी दिन था जब भारत में वन्य पशुओं और वनस्पतियों की बहुतायत वैसे ही थी जैसे अंधेरे पखवारे में आकाश में तारों की होती है। उन्होंने अपने अस्तित्व से या यों कहें कि मनुष्य के साथ सहअस्तित्व से उसके जीवन को सुखी बना रखा था। उन्होंने हमारे जीवन को सुखमय बनाने में अपने त्याग और बलिदान का भी अपूर्व परिचय दिया था। आज उसी देश में वन्य पशुओं को देखने के लिए दूरबिन लगाने की जरूरत पड़ गयी है। वन और वनस्पति की जगह धूल उड़ाती भूमि या गंदे शहर या छोटी बस्तियां उभर आयी हैं। वन्य पशुओं की कमी के दो-तीन कारण बताये जाते हैं या कि बताये जाने लगे हैं। एक कारण तो आमतौर पर यही कहा जाता है कि मनुष्यों की बढ़ती हुई आबादी के कारण खेती के काम आने वाली जमीन की अधिक जरूरत पड़ने लगी। अत: जंगलों का कटना भी उसी अनुपात में बढ़ने लगा। अर्थात् जंगल साफ होते गये और खेती की जमीन बढ़ती गयी। यह कारण सही भी है और इसको रोक सकना भी संभव नहीं दिखाई देता। अभी जनसंख्या की वृद्धि में कमी होने के लक्षण भी नहीं दिखाई देते। एक ओर तो यह उद्देश्य है कि इस शती के अंत तक जन्म की दर प्रति एक हजार पर इक्कीस तक घट जाये वहीं यह भी कहा जाता है कि इस शती के अंत तक भारत की आबादी एक सौ ग्यारह करोड़ हो जायेगी। जाहिर है कि जो जमीन आज है उसके आधे से अधिक पर आदमी रह रहे होंगे। फिर खेती के लिए जो जमीन आज उपलब्ध है वह भी आधे से अधिक कम हो जायेगी। अगर उसको पूरा करने का प्रयत्न किया गया, जो नितांत स्वाभाविक भी जान पड़ता है, तो जंगल ही तो कटेंगे। जंगलों के अधीन जमीन यों ही बहुत कम रह गयी है। अगर उसे भी खेती के काम में लाया गया तो या तो वनों का सफाया हुआ ही जानिए या फिर खेती की जगह और कोई उपाय सोचा जायेगा। अभी ही अन्न के विकल्प पर वैज्ञानिकों की शोध प्रारंभ हो गयी है। जब जंगल नहीं तो वन्य पशु कहां।

थे। जमींदारी उन्मूलन से पूर्व कुछ तो ऐसे वन निजी वन थे और कुछ सरकारी अधिकार में होते हुए भी उन हिस्सों में रहने वाले निवासियों के उपभोग के लिए उन्हें अधिकार देते थे। इन वनों से वहां के निवासी अपनी जरूरत की लकड़ी भी पा लेते थे और अपने डंगर ढोरों को चराने की सुविधा भी। यद्यपि इस प्रकार के वनों से लकड़ी या पेड़ काटने पर संयम वरता जाता था और इसके लिए कुछ नियम और अधिकार भी सुनिश्चित थे। ऐसे वनों से सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि वन्य पशु सुरक्षित वनों की सीमा पार करने पर वनों में ही रहते थे। इन वनों को उन दिनों सिविल फारेस्ट भी कहा जाता था। ऐसा वहुत कम होता था कि वन्य पशु एकदम खुले में घूमते रहने के लिए विवश हो जाते रहे हों। काले मृगों की वात इस संवंध में अपवाद जरूर थी। किंतु वंदूकों की संख्या वहुत कम होने के कारण उनकी भी निर्मम हत्या नहीं हो पाती थी। जो पालतू पशु जैसे गाय, वैल, भैंस, भेड़, वकरी आदि इन जंगलों में चरने जाते थे, वे भी सही सलामत संध्या समय अपने घरों को लौट आते थे। क्योंकि मांसाहारी पशु, जिनमें मुख्यत: शेर और गुलदार थे, ऐसे पशुओं पर हमला नहीं करते थे क्योंकि वे प्राय: अपने निवास के घने जंगलों में ही अपना आहार पा लेते थे जिन्हें पहले आरक्षित वन कहा गया है। ग्रामवासियों के पालतू पशु यदाकदा ही उनके चपेट में आते थे। जव इस प्रकार की वारदातें वहुत वढ़ जातीं तो कुशल शिकारियों को आमंत्रित करके उस वन खंड को कुछ दिनों के लिए आपद करार दिया जाता था। एक प्रकार का संयम दोनों तरफ से वरता जाता था। जब तक यह युगपत् वना रहा तव तक वन्य पशु भी वने रहे और मनुष्य और उनके वीच साहचर्य का संवंध भी वना रहा। वढ़ी और वढ़ती हुई आवादी के कारण इस प्रकार के गलियारे-जैसे वन अव न तो कायम करना संभव जान पड़ता है और न पुराने 'सिविल फारेस्ट' को पुनर्जीवित किया जा सकता है। उन पर तो खेत और वागवानी का अप्रतिहत दवाव पड़ चुका है।

जहां तक पशुओं के नाश का प्रश्न है अंग्रेजी शासन के आने पर यह संयम टूट गया। अंग्रेज अफसरों के पास काम कम और समय अधिक था। यदि काम था भी तो भी उसके साथ-साथ उनमें प्रभुताजन्य निरंकुशता तो थी ही। उनमें से अधिकांश अपना वहुत सारा समय जंगलों में विताते थे। ऐसा करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने वन व्यवस्था में वहुत सुधार भी किया और भारतीय वनों में पाये जाने वाले जीव जंतुओं वृक्षों और लता गुल्मों का जितना अधिक और अच्छा ज्ञान उन्हें हुआ आज उन्हीं पदों पर काम करने वाले देशी अफसरों में यदि शून्य नहीं तो न कुछ-सा तो है ही। किंतु इस लाभ के साथ-साथ जो दुष्परिणाम हुआ वह यह कि उन्होंने भांति-भांति के पशुओं की खालें, सींगें और सिर आदि के प्रतिमान कायम करने और उनके नमूने एकत्र करने की आपस में होड़-सी लगा ली। उनको खुश करने के लिए देशी राजाओं, महाराजाओं नवावों और तालुकेदारों आदि ने भी उन्हें अपना मेहमान वनाकर उन्हें उपकृत किया। वैसे भी वेतहाशा वन्य पशुओं का शिकार करने की एक गलत चलन पैदा हो गयी थी जो तव तक कायम रही जव तक कि यह स्पष्ट एहसास नहीं हो गया

कि शिकार करने पर एकदम या कि भारी रोक लगा देना जरूरी है। इस प्रकार वन्य पशुओं का जो सर्वनाश हुआ वह तो हुआ ही सबसे बड़ा अपराध तो वन विभाग की आधुनिक व्यवस्था ने ही किया। पुराने मिश्रित वनों को काटकर नये प्रकार के औद्योगिक वन लगाये जाने लगे। आज की आधुनिक सभ्यता में औद्योगिक वनों का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके महत्व को कम भी नहीं किया जा सकता। किंतु ऐसा करते समय जिस विवेक से काम लेना चाहिए था वह नहीं लिया गया। पुराने मिश्रित वन काटते हुए उन सब वृक्षों का समूल नाश कर दिया गया जिनकी जड़ें नीचे तक जाती थी और जो घनी छाया वाले जंगल के फलदार वृक्ष थे। ऐसे वृक्षों के नीचे उगने वाली घासें वन्य पशुओं की रक्षा में बड़ी कारगर होती थी। इन वनों के बीच-बीच में बांसा, जिसे अड़ूसा भी कहते हैं, विलड़ू या पीलू, लैंटाना, नरकुल और वेंत जैसी झाड़ियां और घासों की पैदावार भी होती रहती थी। यह सब मिलकर वन्य पशुओं की रक्षा मनुष्यों से भी करते थे और मांसाहारी पशुओं से दूसरे शाकाहारी पशुओं की भी रक्षा होती रहती थी।

इन्हीं पेड़ों के ऊपर या तले नाना प्रकार के ऐसे पशु-पक्षी भी होते थे जिनमें बंदर, मोर और मुर्गियों का विशेष सम्मान था। यह इन्हीं के ऊपर या नीचे से एक दूसरे को आगाह करते रहते थे। जब इन मिश्रित वनों के स्थान पर एकल वृक्षों के वन लगने लगे और खासकर युकीलिप्टस के बड़े-बड़े वन खंड तैयार होने लगे तब वन्य पशुओं की आत्मरक्षा पर सबसे बड़ा आघात पहुंचा। यूकीलिप्टस के वनों में उगने वाली घासों को समय-समय पर काटकर इसलिए छोटा कर देना पड़ता है कि इसमें यदि कभी आग लग जाये तो पूरा का पूरा वन खंड ही जल जाता है। यूकीलिप्टस के पेड़ों में तेल की मात्रा अधिक होने के कारण उनको आसानी से बुझाना असंभव हो जाता है। जैसा कि पहले कहा गया इन जंगलों में पशुओं को छिपकर रहने के लिए बड़ी-बड़ी घासें न हों तो उनकी रक्षा कैसे हो सकती है। यह सही कहा गया है कि घनी और ऊंची घासों का एक ऐसा विस्तार जो घने जंगलों से घिरा हो और जिसमें पानी के सोते या चश्में प्रभूत मात्रा में बहते रहते हैं सही माने में वन्य पशुओं के विहारस्थल हैं। जब यह विहारस्थल ही गायब हो गये और जब हर आदमी के हाथ खेती की रक्षा के नाम पर एक बंदूक पकड़ा दी गयी तब वन्य पशुओं की रक्षा पर विचार करने के लिए संगोष्ठियां करना और अखबारों में लेख लिखना ही बच रहा है।

यही हाल वनस्पतियों के संबंध में भी हुआ। वृक्षारोपण, वनमहोत्सव, वनीकरण, सामाजिक वनीकरण आदि नाना प्रकार की योजनाएं बनाना, उनके महत्व को समझाने के लिए गोष्ठियां करना, इश्तहार छापना, लेखादि लिखना मुख्य काम हो गया है। "जब तोप मुकाबिल हो तब अखबार निकालो" अकबर इलाहाबादी बहुत पहले बता गये हैं। बढ़ती हुई आबादी के मुकाबिले कुछ भी नहीं ठहर सकता। न वन, न वन्य पशु और न इनकी साझेदारी की समझ। समझ बढ़े भी तो कैसे! जो गोष्ठियां होती हैं उनमें वे किसान नहीं बुलाये जाते जिन्हें अपने खेतों की ही अधिक चिंता है। नहीं बताया जाता कि वन और खेत दोनों का गठबंधन ही उनके हित में है।

बुलाया भी जाय तो इन गोष्ठियों की भापा और परिवेश उनकी समझ में नहीं आने वाला होगा। भापा को सरल बनाकर सीधे-सादे व्याख्यान और लेख भी कारगर नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें सदियों से अशिक्षित और निरक्षर बनाने का उपक्रम बहुत सफल हो चुका है। ब्रिटिश शासन काल में जब से उनकी भापा और लिपि उनसे छीन ली गयी तब से वह निरक्षर भी हो गये और हीन भावना से ग्रसित भी। अतः प्रत्यक्षतः तो यही जान पड़ता है कि इनके बीच में पर्यावरण, और वन्य जीवों की रक्षा की बात एक नये और दूसरे सिरे से करनी होगी। उन्हें पर्यावरण के संबंध में बजाय तकनीकी शब्दावली में बात करने के, वृक्षों और उनकी खेती से जोड़कर करनी पड़ेगी। उन्हें एक बार फिर से याद दिलाना पड़ेगा, उनकी स्मृति को कुरेदना पड़ेगा, कि उन्हें वृक्षों की पहचान थी, वे खेती को पशुधन से अलग नहीं मानते थे, खेती केवल अन्न की ही नहीं होती और पशु केवल ग्राम्य ही नहीं होते। ग्राम्य पशुओं के साथ वन्य जीवों का भी उनके लिए वैसा ही महत्व है जैसा उनकी खेती और उनके वृक्षों का। उन्हें यह भी बताना पड़ेगा कि वन्य जीव केवल शेर, गुलदार, हाथी, सूअर ही नहीं होते। इन सबकी समझ पैदा करने के के लिए आधुनिक प्रचार माध्यमों का सहारा लेना जरूरी है। चलचित्र इस काम में बहुत सहायक होंगे। टेलीविजन अभी भी उतना कारगर नहीं होगा। फिर भी यदि उसका भी सहारा लिया जाय तो और अच्छा है। कम से कम नागर क्षेत्रों के निवासियों का दृष्टिकोण बदलने में सहायता जरूर मिलेगी। पर यह सब भी सफल तभी होंगे जब इन विषयों पर जो चलचित्र बनाये जायें वे केवल वृत्तचित्र ही न हों। इन्हें कथा का सहारा देना पड़ेगा। इन्हें कथात्मक बनाने के लिए केवल इतिहास पुराण की ओर देखने से भी गड़बड़ी होगी। आज की सबसे बड़ी जरूरत ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों को विज्ञान का सहारा, उसका निकट से परिचय कराना है। जब तक यह नहीं होता तब-तक सारा प्रयत्न तमाशा बनकर रह जायेगा।

आज का असली किसान बहुत ही गरीब हो गया है। उसके पास भापा नहीं, भाव नहीं, अन्न नहीं, दूध नहीं, कपड़ा और मकान नहीं, कुछ भी तो नहीं बच रहा है। जो बच रहा है वह केवल भूख। अन्न की भूख और काम की भूख। अन्न की भूख मिटाने के लिए वह धर्माचरण से विरत हो रहा है। काम की भूख मिटाने के लिए यदि वह धर्माचरण से विरत न होकर एक पत्नीव्रती भी बना रहे तो भी अनेक संतानों का पिता तो बनता ही रह सकता है। ऐसी संतानों का जनक बनता रह सकता है जो नाना प्रकार के रोगों से घिरी हुई अस्वास्थ्य और अमानवीय जिंदगी बिताने के लिए विवश होती जा रही है। इस बात का सर्वेक्षण करने का साहस किसी को नहीं होता कि बढ़ती हुई आबादी का कितना बड़ा भाग रोज-रोज गरीबी, निपट गरीबी की रेखा के नीचे, धरातल के भी नीचे जा रहा है। सचाई का सामना न कर सकने पर "गरीबी की रेखा की परिभापा बदल दी जाती है, उसकी सीमा रेखा बदल दी जाती है।

कहा जाता है कि यह प्रवृत्ति या प्रक्रिया सभी विकासशील देशों की है कि जो गरीब हैं वे और गरीब होंगे और जो अमीर हैं उनके पास अधिक धन आयेगा। पर ऐसा

कहते रहने से ही काम नहीं चलने का। हम कब तक विकासशील बने रहेंगे ? हम पूर्ण विकसित क्यों नहीं हो सकते ? कौन हमे सतत विकासशील बनाये रखने का जिम्मेदार है ? पर ये प्रश्न भी वे किसान नहीं पूछेंगे और इस प्रकार के किसी संदर्भ में वे बात नहीं करना चाहेंगे जिनके खेतों का आयतन एक बीघे से दस बीघे तक ही है। वह भी नहीं पूछेंगे जिनके पास अभी भी बावजूद इसके कि कृषि भूमि की सीमा निर्धारित कर ली गयी है सौ एकड़ या उससे अधिक जमीनें बनी हैं। दोनों के ऐसे प्रश्न न पूछने के अलग-अलग कारण हैं। पांच बीघे वाले किसान को तो अपना सर और तन ढकने की चिंता इतनी व्याप्त है कि उसे किसी प्रकार की बहस में पड़ने की सुधबुध नहीं रह गयी है। सौ एकड़ वाले का घर भर रहा है अतः उसे सारी दुनिया भरी पूरी खुशहाल नजर आती है। उसे गरीबी की सीमा रेखा से क्या मतलब ? जब उसी की सरकार उसी का वोट, फिर वह ऐसे प्रश्न पूछने का खतरा क्यों मोल ले ?

तब बात कहां की जाये और किस ढंग से की जाये कि आम आदमी सचेत हो सके। पर इसी बात का ही तो और खतरा है। गरीबी से पिसता हुआ आदमी सचेत होकर उठ खड़ा हो यह किसका उद्देश्य हो सकता है ? शासन का हो भी तो सौ बीघे के मालिक का तो नहीं होगा। अगर उसका उद्देश्य नहीं है तो सरकार का भी नहीं है। सरकार सौ बीघे के मालिक की मां है और सौ बीघे का मालिक सरकार का बाप है। यह रिश्ता जितना फूहड़ है उतनी ही कुरूप उसकी व्यवस्था है। ऐसी हालत में यह उम्मीद करना कि कोई ऐसा कारगर कदम उठाया जायेगा जिससे देश के पर्यावरण की सुरक्षा समृद्धि बनी रहेगी आकाश के तारे तोड़ने जैसा लगता है।

ज्यों-ज्यों आबादी बढ़ेगी अशिक्षा, गरीबी और रोग बढ़ेंगे। अशिक्षित, गरीब और रोगी, शासन व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की मजबूत ईंटें होती हैं। फिर भी अपने देश में किसी प्रकार प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली चलते रहने के कारण कुछ कहना संभव बना रहेगा। जब तक यह संभावना है तब तक कुछ विषयों पर कुछ बातें तो कही जाती रहेंगी। कुछ उनमें ऐसी भी होंगी जिन्हें समझ लेने पर गरीब गरीबी से छुटकारा पाने का मार्ग देखने लगेगा। कुछ बातें ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें शासन की बाट न जोहना पड़े। शासन व्यवस्था से बचकर आज शायद ही कोई काम हो सकता है फिर भी उम्मीद बाकी बनी रखनी चाहिए। किसान अपने खेत में या उसकी मेड़ों पर पेड़ लगाये तो इसमें व्यवस्था आड़े नहीं आयेगी। पर अपने ही लगाये पेड़ के बड़े होने पर और निपट जरूरत के समय काटने पर शासन रोक लगायेगा। वनों से लकड़ी नहीं देगा पर अपना वन भी लगाने नहीं देगा। इस सांप, छुछुंदर की गति में पड़े रहने पर भी कहीं कुछ प्रकाश बाकी बचा है। गरीब किसान को अपनी मुक्ति की राह दिखानी चाहिए। वह राह, इन्हीं स्वयं के लगाये वृक्षों और खेतों, वृक्ष और पशु की साझेदारी की समझ के बीच से जा रही है। काश कि हम इन्हें समझा सकते और ये गरीब इन्हें समझ सकते।

प्रकृति उपहार देती रहेगी

प्रकृति के विरुद्ध सब कुछ होने के बाद भी प्रकृति सदैव मानव को अपने उपहार देती रहेगी। प्रकृति ने मानव को एक से एक अनुपम उपहार दिये हैं। सोना, चांदी, लोहा, तांबा और विविध रत्न। यह सब भी दिये हैं और कोयला, तेल जैसे दूसरे खनिज पदार्थ भी दिये हैं। इनमें से कुछ जीवन के लिए उपयोगी, कुछ मूल्यवान और कुछ अनिवार्य भी हैं। जल और वायु ये अनिवार्य हैं। इनके बिना जीव जगत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जल को इसीलिए जीवन कहा गया और वायु प्राण का प्रतीक बना। यद्यपि प्राण ऊर्जा है। ऊर्जा के रूप में शक्ति संपन्न जल और वायु दोनों ही हैं। पर कोयला भी ऊर्जा ही है। अग्नि उसका प्रतीक बना। कोयला खनिज भी है और अग्नि द्वारा जलाये जाने पर वृक्षों की लकड़ी भी कोयले का रूप धारण करती है। अतः वृक्ष भी ऊर्जा हुए। पर वृक्ष केवल ऊर्जा ही नहीं और बहुत कुछ भी हैं। ऊर्जा के रूप में भी वह महनीय हैं। इसलिए कि कोयला रूपी खनिज तो कभी समाप्त भी हो जायेगा। पर वृक्ष तो पुनर्जन्मा हैं—अतः चिरंतन हैं। खनिज कोयला जड़ हैं। वृक्ष चेतन हैं। जीव जगत के सदस्य हैं। अतः कहा जाये तो ऐसे हुतात्मा हैं कि अपने को होम करके, जला करके दूसरों को ऊर्जा देते हैं। सामान्य जीवन में इनका चोली दामन का सा साथ रहता है। अतः वृक्षों को प्रकृति का सर्वोपम उपहार कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी।

वृक्षों को हमने जीव जगत का अंग माना है। पर यह लाक्षणिक प्रयोग नहीं वैज्ञानिक सत्य भी है। सुविधा के लिए वनस्पति जगत अलग जरूर कर लिया गया पर उसे मानव जगत से भिन्न होने पर भी जीव जगत् के बाहर रखना संभव नहीं। एक दो उदाहरण रोचक होंगे। 1955 के आसपास या उसके थोड़े दिनों बाद की बात है जब कि एक अमेरिकी वैज्ञानिक श्री वोगेल के हाथ एक दूसरे अमेरिकी वैज्ञानिक का एक लेख पढ़ने को मिला जिसका शीर्षक था, "क्या पौधों में भी भावनाएं होती हैं ?" पहले तो वोगेल ने उसे कूड़ेदान के सुपुर्द कर दिया पर जाने क्यों दिन भर उनका मन मथता रहा। शाम को उन्होंने उसे निकाल कर फिर पढ़ा और उस आधार पर प्रयोग और परीक्षण करके स्वयं को संतुष्ट करने के लिए अपने विद्यार्थियों को तीन दलों में विभक्त कर दिया। उनके विद्यार्थियों को तो कोई आशाजनक फल नहीं प्राप्त हुआ पर स्वयं वोगेल इस बात को परीक्षण द्वारा सिद्ध करने में समर्थ हो गये कि वनस्पतियों में भी

भावना होती है और वे भी, जब उनकी पत्तियों को तोड़ने या उन्हें ही काटने या जलाने के लिए कोई आगे बढ़ता है तो, अपने शत्रु के उद्देश्यों को जान जाती हैं और उनमें भावनात्मक प्रतिक्रियाएं होने लगती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आज यह एक वैज्ञानिक सत्य हो गया है और वनस्पति भी जीव जगत में शामिल हैं। उनमें भी प्राणों का स्पंदन वैसा ही होता है। अस्तु हम यहां वृक्षों को, प्रकृति के अनुपम उपहार के रूप में देखते हुए यह समझने में भी समर्थ हुए कि वे सजीव उपहार भी हैं। वे सजीव हैं, उनमें भी संवेदनशीलता है यह तथ्य भारतीय संस्कार तो प्राचीन काल से स्वीकार करता चला आया है। पर यह वैज्ञानिक सत्य भी है इसकी स्वीकृति भी केवल अमेरिका में ही नहीं दूसरे देशों से भी मिलने लगी है। सन् 1970 के अक्तूबर के महीने में रूसी पत्र प्रवदा ने एक लेख छापा जिसका शीर्षक था "पत्ते हमसे क्या कहते हैं!" लेख में घोषणा की कि "पौधे बोलते हैं, दर्द से चीखते हैं।" प्रवदा के संवाददाता वी० चर्टकोव ने, मास्को की प्रसिद्ध तिमिरियाजेव कृषि विज्ञानशाला में जो अनुभव या कहें कि दृश्य देखा उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया था।

"मेरी आंखों के सामने तब एक पौधा वस्तुत: चीख उठा जब उसकी जड़ें खौलते पानी में डाली गयीं। यह सच है कि उसकी चीख साधारण कानों को नहीं सुनाई पड़ रही थी पर उसे एक विशेष प्रकार के बहुत ही संवेदनशील विद्युत यंत्र पर अंकित किया जा रहा था और उसके आंसुओं की धार को एक इसी प्रकार के विशेष निर्मित कागज पर धारण किया जा रहा था। पौधे के दर्द की संवाहिका लेखनी जिस प्रकार की उत्तेजना कागज पर प्रकट कर रही थी, वह बाहर से अभी तक हरी दिखाई पड़ने वाले पौधे की आसन्न मृत्यु की भावनात्मक बेचैनी को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त थी।"

प्रवदा के संवाददाता ने बाद में उस शोधशाला के अध्यक्ष, प्रोफेसर इवान इसीडोरोविच गूनर से भेंट की और उन्होंने अपने साथियों सहित जो सैकड़ों प्रयोग किये थे उसकी जानकारी देते हुए यह पुष्ट किया था कि पौधों में भी मानव के समान ही संवित उठते हैं और दु:ख-सुख की प्रतिक्रिया होती है।

पर हम यहां केवल वृक्षों की सजीवता का ही प्रतिपादन नहीं करना चाहते। हम केवल यह कह कर भी संतोष नहीं करना चाहते कि जो वस्तु उपहार में मिलती है उसे सुरक्षित रखना चाहिए। प्रकृति की देन तो सभी हैं। कौन किसको अपने लिए उपहार मानता है यह विवेचन भी अप्रासंगिक होगा। पर मनुष्य, जिसने अपनी विलक्षण विचार शक्ति के कारण, अपने ही आप अपने को सभी जीवधारियों में सर्वोत्कृष्ट बना लिया है, उसको यह भी सोचना जरूरी है, कम से कम आज की प्रौद्योगिकी और तकनीकी सभ्यता के दौड़ते चरण में, कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त उपहारों का हम कैसा उपयोग करें। दार्शनिक धरातल पर तो सभी अन्न हैं। अन्न को ही अन्न खाता है। पर सामान्य जीवन व्यापार में विवेक की, व्यावहारिक विवेक की बड़ी आवश्यकता होती है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो दूसरे शब्दों में उपहार भी उपहार को ही खाने लगेगा। ऐसी आशंका निराधार भी नहीं है।

जब प्रकृति ने उन्हें, हमें सजीव उपहार के रूप में दिया है तो हमें उसकी मर्यादा की भी रक्षा करनी है। उसके मूल्यवान उपहार को मूल्यवान बनाये रखना है। यह मूल्य-बोध कई धरातलों पर होता है और होता रहेगा। भावनात्मक दृष्टि से अगर देखें तो फूलों की मधुर मुस्कान और खिलखिलाहट में नारी और बच्चे की मुस्कान और खिल-खिलाहट देखने की क्षमता हमें अपनानी पड़ेगी। चिरंतन सृष्टि क्रम में सभी नश्वर भी हैं। सौंदर्य की भी नश्वरता है। पर इसीलिए कि वह नश्वर है फूल तोड़ना, याकि पेड़ काटना उचित नहीं। मनुष्य को मनुष्य का वध करने का अधिकार नहीं है पर कुछ वध होते हैं। कुछ को फांसी की सजा दी जाती है और कुछ हंसते-हंसते अपने देश की रक्षा के लिए फांसी के तख्ते पर झूल जाते हैं, युद्ध में अपने को होम कर देते हैं। पर दोनों स्थितियों में भिन्नता तो होती है। अतः वृक्ष जीवधारी होते हुए भी कटेंगे पर उन्हें भी शायद अच्छा लगेगा जब उनके आत्मोसर्ग में सभ्यता और संस्कृति का विकास दिखाई दे रहा होगा। लेकिन तब वे ढार-ढार आंसू भी बहा देंगे और चीत्कार भी करेंगे जब वे देखेंगे कि उनके नाश में मनुष्य अपनी विनाश लीला कर रहा है। यदि हमारे पास इतना विवेक नहीं रह गया है कि हम खिले हुए फूल को न तोड़ें, कलियों को न छेड़ें, हरे वृक्षों को न काटें तो कम से कम इतना मान लेने में हमारी हेठी नहीं होनी चाहिए कि उनमें अर्थात् वृक्षों में इतना विवेक बाकी है कि वे समझते जा रहे हैं कि मानव सभ्यता किस ओर जा रही है और उसका छोर कहां है। वे जानते हैं कि मानव संस्कृति और सभ्यता का अंत वहीं है जहां वनस्पतियों का, संपूर्ण नहीं, केवल एक सीमा तक ही कट जाना है। मानव के समूल नष्ट हो जाने पर भी शायद वनस्पतियां बच रहेंगी। वे प्रकृति की ऐसी धरोहर हैं, जिनसे वह अपना श्रृंगार करती है। इन्हीं के द्वारा प्रकृति अपने विविध रूपों में प्रकट होती है, यही उसकी शक्ति है, यही उसकी देवता हैं, अतः पूजार्ह है। पर हम हैं कि अपने सहोदरों को ही नहीं समझ पा रहे हैं। अपने ही विग्रह का नाश करने पर तुले हैं। हमसे इससे अधिक और अपेक्षा ही क्या की जा सकती है ? जब हम मनुष्य होकर भी मनुष्य को ही मारने पर तुले हैं, जब हमने अपने को ही जाति धर्म और देश में बांट रखा है तो ज़ाहिर है कि हम वह दृष्टि खो चुके हैं जिससे प्रकृति की एकतानता को, उसकी एकात्मता को, जड़ चेतन के अद्वैत को, करुणा की अजस्र धारा को देखा जा सकता है, पहचाना जा सकता है।

वनस्पतियों को ओषधि भी कहा गया था। पर शायद उनमें भी अब उपचार की शक्ति का ह्रास हो गया है अन्यथा ज़रूर ही वह मनुष्य के पागलपन का उपचार करतीं। जो भी हो, जब तक जो लोग भी इस उपहार को प्रकृति की धरोहर मानकर उनकी रक्षा करते रहेंगे जीते रहेंगे—जीवन क्रम को बनाये रखेंगे। लेकिन इस समझ को, इस अन्योन्याश्रयी समझ को, उनमें कैसे पैदा की जाय जो निरक्षर हैं, गरीब हैं, और कोरे उपदेशों से पागल हो उठे हैं। तभी यह बात बार-बार उभर कर सामने आती है कि ऐसे चलचित्र बनाये जायें जो कथात्मक हों और विज्ञानमय जीवन को, उसकी सार्थकता को स्पष्ट करने में सहायक हो। पूर्वजों के इस विश्वास को, सत्य की इस अव-

धारणा को स्पष्ट कराना जरूरी है कि प्रकृति या सृष्टि का उद्गम अद्वैत है। जीव निर्जीव सब उसी एक के अनेक रूप हैं। सन् 82 के दिसंबर मास में विश्वभारती के दीक्षा समारोह में इस बात को स्पष्ट करते हुए श्रीमती इंदिरा गांधी ने प्राचीन भारतीय विचारधारा पर बहुत जोर दिया था। इसी वर्ष इससे पूर्व मार्च में लंदन के एक समारोह में बोलते हुए उन्होंने विज्ञान को आत्मसाक्षात्कार और अपने परिवेश को समझने का अनिवार्य साधन भी माना था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था : आज के वैज्ञानिकों को, राष्ट्रों और व्यक्तियों के सम्मुख जो मानवीय समस्याएं उत्पन्न हो गयी हैं उनकी दुश्चिता सता रही है। विज्ञान और भारतीय समझ और उसकी प्राचीन परंपरा की ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया था। फिर क्या क्रिया जाय कि उसी भारत के कोटि-कोटि निवासी जो घोर अज्ञान और अंधविश्वास में आकंठ डूबे हुए हैं वह बाहर निकल सकें। यदि उन्हें विज्ञान का प्रकाश नहीं मिला तो न ये अपने को समझ सकेंगे न अपने पर्यावरण को जान सकेंगे, न प्रकृति को, न उसके उपहार को। अतः पर्यावरण की बात नक्कारखाने में तूती की आवाज ही बनकर रह जायेगी।

मानव और उसका पर्यावरण

पर्यावरण की बात उठने पर एक ऐसे संसार का चित्र सामने उठ खड़ा होता है जिसमें मनुष्यों के साथ पशुओं, पक्षियों तथा कुछ दूसरे प्रकार के कीट-पतंगों, जिनमें नाना प्रकार की तितलियां, भौंरे और पेड़ों पर रहने, रेंगने वाले जीवों की भी वस्ती होती है। इनमें तो कुछ ऐसे जीव होते हैं जो जरूरी नहीं कि ऐसे ही पेड़ों का सहारा ढूंढते हों जिनमें उनके खाने के लिए फल भी पैदा होते हों। केवल फूलने वाले पेड़ भी इनके जीवन की अमूल्य निधि हैं। पेड़ भी जीवधारी होते हैं और पेड़ों के विना किसी जीव-जगत की समग्रता की कल्पना नहीं की जा सकती। इन्हीं पेड़ों में से कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें स्वयं-जात कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें आदमी की देख-रेख की जरूरत नहीं पड़ती। वह अपने आप उगते हैं और अपनी जीवनयात्रा दीर्घकाल तक मिट्टी पानी के सहारे पूरी करते हैं। उनकी शरण में वहुत से पशु-पक्षी भी रहते हैं और इस प्रकार के जीव समाज को वन कहा जाता है। ये वन मानव वस्तियों के निकट या दूर रह कर भी हर हालत में उसके पर्यावरण को संतुलित रखने और उसको शुद्ध और स्वस्थ वनाने में वड़े सहायक होते हैं। वनों में केवल पेड़ ही होते हैं ऐसा मानना भी गलत होगा। वनस्पतियों की विरादरी वहुत वड़ी है। अभी तक मनुष्य उनकी न तो गिनती कर सका है और न उन्हें पूरी तरह जान सका है। जो कुछ थोड़ा-वहुत जाना वूझा जा सका है वही अपने आप में वड़ा विस्मयकारी जीव जगत है। जो नहीं जाना जा सका है वह जाने हुए जीव जगत से भी वड़ा है। अतः यह मानना उचित होगा कि अभी भी हम जीव जगत के एक छोटे अंश को ही जान सके हैं और जितना भी जान गए हैं उसमें भी और थोड़े अंश की ही पहचान हो सकी है।

केवल अपने देश में, संसार की वात तो छोड़ ही देनी चाहिए, वन्य वनस्पतियों की अपरिसीम किस्में हैं। बहुत प्रयत्नों के वावजूद अभी तक उनकी पूरी गणना नहीं हो सकी है। कांजी लाल, ब्रैंडिस और ट्रूप जैसे विद्वानों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनकी गणना और पहचान करने की कोशिश की थी पर उस काम को आगे नहीं बढ़ाया जा सका है। यह एक दुखद वात है। अभी तक जो कुछ भी काम हुआ है वह स्तुत्य होते हुए भी भारतीय वनों की पूरी जानकारी नहीं देता। फिर ऐसी जान-कारी की तो नितांत कमी है जिससे साधारण जन में वनों के प्रति आकर्षण और निष्ठा

पैदा हो सकें। हिंदी में इस प्रकार का सचित्र साहित्य अनुपलब्ध है जो हमें न केवल वृक्षों, क्षुपों, लताओं और गुल्मों के साथ साक्षात्कार कराता हो, वरन् उनके गुण दोप का विवेचन करता हुआ उनके साथ हमारा रागात्मक संवंध भी वनाता हो। आज जिस प्रकार की प्रगति संचार साधनों के विकास में हो चुकी है उसको देखते हुए तो यह भी संभव होना चाहिए था कि इनकी चित्रावलियां और चलचित्र प्रभूत मात्रा में लोगों को देखने समझने के लिए उपलब्ध रहते। संग्रहालय भी हो सकते थे पर उनमें यह अपरिमेय सासग्री बहुत ही ससीम रह जाती है। फिर भी उनका महत्त्व अपनी जगह कायम है। इन सवके अभाव के कारण और रुचि न होने के कारण वन कहने से एक ऐसे परिचित-अपरिचित संसार का आभास मात्र मिलता है जो प्रधानतः भय और कष्ट की ओर इंगित करता हुआ प्रतीत होता है। जव कि वात विल्कुल उलटी नहीं तो ऐसी नहीं ही होनी चाहिए थी। वनों में वन्य पशु और दूसरे जीव न भी रहते होते तो भी वन्य, वनस्पतियों के ही कारण, अपने घनत्व और विशालता के कारण और अपनी दुर्गमता के कारण भी साधारण मनुष्य के लिए भय और कष्ट का कारण वन सकते थे। पर वस्तुतः अपनी समग्रता में वे अत्यंत आकर्षक, सुखकर, ज्ञान के नित नवोन्मेप के कारण, वसुधा को सुखी, स्वच्छ और स्वस्थ रखने में सहायक होते हैं। वे संदेश कुछ और देते हैं, हम हैं कि कुछ और सुनते हैं। इस भेद को दूर करने पर ही उनकी भी रक्षा है और हमारा भी जीवन संभव है। इस अन्योन्याभयो समझ को पैदा करने से ही वनों को हम अपना सकेंगे और वन हमें अपने से दूर नहीं रखेंगे। तव वे हमें केवल भय और कष्ट नहीं देंगे। भय और कष्ट तो मनुष्य को अकेले कमरे में भी मिलता रहता है भले ही उस कमरे में उसकी सुख-सुविधा के सारे साधन क्यों न एकत्र कर दिये हों।

मानव पर्यावरण की वात करते समय केवल वनों पर ही ध्यान नहीं केंद्रित रखना चाहिए। इनके अतिरिक्त भी एक और वनस्पति जगत है जिसे उपवन कहा जाता है। उपवन को साहित्य कोशों में कृत्रिम वन कहा गया है। ऐसे वन जो आदमी द्वारा लगाये जाते हों। उपवनों का एक नाम "आराम" भी है। तुलसीदास कहते हैं "परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत"। कालिदास ने भी उपवनों का जिक्र किया है। मेघदूत में पूर्वमेध में वह कहते हैं कि : "पाण्डुच्छायो पवन वृतयः केतकैः सूचिभिन्नैः" अर्थात् केतकी के फूलों से भरे हुए उपवन सफेदी लिए पीलेपन की छाया से भरे होंगे। यक्ष मेघ से कहता है कि दशार्ण नगरी पहुंचने पर वहां के उपवन ऐसे ही होंगे। इसी प्रकार रघुवंश में भी वे कहते हैं "साकेतु मालोपवना वृहद्भिर्विहार शैलानुगतेव नागैः" अर्थात् उसकी सेना अपने ध्वजा वाले भाग में लता वाले उपवनों जैसी लग रही थी। यह कुश की सेना के वर्णन के प्रसंग में आया है। हिंदी साहित्य में भी उपवनों की शोभा का वर्णन वृजभाषा के वहुत से कवियों ने किया है। पुराणों में 24 प्रकार के उपवनों का विवरण मिलता है। इतिहास वताता है कि अकवर ने दरभंगा के पास एक लाख आम के पेड़ों का ही उपवन लगवाया। आज भी लोकगीतों में लखरांव उनकी स्मृति ताजा किये हुए हैं। यह सव कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उपवन से मूलतः उन

प्रकार के वाग-बगीचों से लिया जाता है जो मानव कृत होते हैं, जिन्हें मनुष्य अपनी सुख सुविधा के लिए लगाता है, संवारता है। पर एक दूसरी दृष्टि से देखें तो एक और वात भी स्पष्ट होती है जो मानव और उसके पर्यावरण को ठीक रखने में सहायक होती है। ऐसी वात नहीं कि मानवकृत उपवनों का पर्यावरण से कोई संवंध नहीं। वस्तुत: इनका भी बहुत अधिक योगदान है और यह समाज की सुरुचि को प्रकट करते हैं और उन तमाम लोगों को सुख पहुंचाते हैं जो निजी तौर पर इस प्रकार की व्यवस्था करने में, जमीन की कमी अथवा धनाभाव के कारणअ समर्थ होते हैं।

वन के साथ उप लगाने से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि जो वन से छोटा हो। तब क्या वन वड़े वनों को और उपवन छोटे वनों को कहा जाये ? ऐसा कहने में कोई दोप तो नहीं पर चूंकि उपवन शब्द मानवकृत वाग-वगीचों के लिए रूढ़ हो गया है अत: ऐसा प्रयोग अचकचाने वाला हो सकता है। लेकिन पर्यावरण से संवद्ध वातचीत के प्रसंग में उस वन खंड को जो वनों के वाहरी भाग अथवा आयतन पर स्थित मानव वस्तियों से मिले होते हैं उन्हें भी, जब से सरकारी वन विभागों की स्थापना हो गयी है, आदमी ही लगाते हैं। उनमें किस किस्म के पेड़ लगाये जायें, कितने पेड़ लगाये जायें आदि का निर्णय मनुष्य करता है। अत: अगर उन छोटे खंडों को भी उपवन संज्ञा दी जाये तो इस संदर्भ में अनुचित नहीं होगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उपवन की साहित्य में दी गयी परिभापा वदल दी जाये पर मनावकृत वनोंके उन छोटे छोटेखंडों की जो वनों के बाहर या उनसे मिले हुए लगाये जा रहे हैं, अथवा जिस प्रकार छोटे-छोटे भूखंडों पर सामाजिक वानिकी की योजना में वन उगाये जायेंगे या उग जायेंगे उन्हें भी उपवन की श्रेणी में रखना अनुचित नहीं होगा। वस्तुत: जिस प्रकार के उपवनों का उदाहरण साहित्य में दिया गया है आज की जनसंकुलता में उस प्रकार के उपवनों का तो ह्रास ही होता जा रहा है। आगे चल कर इस दूसरे प्रकार के ही उपवन वचे रह जायें यही बहुत होगा। अस्तु।

वन हो या कि उपवन जैसा पहले कहा जा चुका है उसकी कल्पना पशु-पक्षियों को अलग रखकर नहीं की जा सकती। वनों में जिस प्रकार के पशु-पक्षी रहते हैं उनकी संख्या और बिरादरी के आधार पर उन्हें उपवनों में पाये जाने वाले पशु-पक्षियों से अलग तो किया जा सकता है पर उनका कोटि विभाजन नहीं हो सकता। जो पशु-पक्षी उपवनों में मिलते हैं वे वनों में भी मिलेंगे पर जो पशु-पक्षी वनों में मिलते हैं उन्हें उपवनों में आने देना संभव नहीं है और उनमें से वहुत से तो आयेंगे ही नहीं। उपवन उनके निसर्ग वास स्थान नहीं वन सकते। पर कुछ जीव ऐसे हैं जो उपवनों में भी वड़े आराम से रह सकते हैं। उपवनों में पशुओं की अपेक्षा पक्षियों की वहुतायत होती है। पक्षी अपना वसेरा भी पाते हैं और उपवनों में कई प्रकार के वृक्ष ऐसे होते हैं कि अगर पक्षी उनमें न आये तो वे फल फूल नहीं सकते। ये पक्षी उनके प्रजनन में सहायक होते हैं। उपवनों में जितने ही अधिक रंगों के फूलने वाले वृक्ष, लताएं और गुल्म होंगे उतनी ही रंग-विरंगी तितलियां, मधु मक्खियां और भौंरे उनमें गुंजार करते पाये जायेंगे।

ये सब मिलाकर उपवनों को सार्थक भी बनाते हैं और उनकी शोभा भी बढ़ाते हैं। विना वन्य जीवों के, जिनमें पशु और पक्षी दोनों वर्ग के जीव शामिल हैं वनों और उपवनों की पूर्णता नहीं बनती। जो लोग वनों और उपवनों से केवल वनस्पति स्थान की कल्पना करते हैं वह गलत कल्पना करते हैं, अधूरी कल्पना करते हैं, एकांगी बात सोचते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि मानव और उसका पर्यावरण केवल वनस्पतियों से ही नहीं बनता।

व्यक्ति के शरीर में जो काम उसका फेफड़ा करता है वही काम समाज के शरीर में उपवन करते हैं। जैसे शरीर में फेफड़ा गंदी वायु को बाहर करता रहता है और शुद्ध वायु या जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में आक्सीजन कहते हैं शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भीतर रखता रहता है वैसे ही उपवन भी मानव समाज को स्वस्थ रखने में शुद्ध वायु का विस्तार करने में सहायक होते रहते हैं। जब वनों उपवनों और उनमें रहने वाले वन्य प्राणियों की बहुलता रहती है, तब मानव समाज भी सुखी और समृद्ध रहता है। अतः अगर उपवनों को उनके पारंपरिक अर्थ में ही लिया जाय तो हर घनी आबादी वाले शहरों और गांव समूहों के बीच अधिक से अधिक उपवनों की आवश्यकता सिद्ध होती रहती है। गांवों और गांव समूहों के बीच उपवनों की कल्पना कुछ अति-शयोक्ति लग सकती है पर वे आवश्यक हैं। इसलिए भी कि गांवों के बाहर खेती बहुत हद तक पर्यावरण को समृद्ध करने में सहायक तो होती है पर स्वयं अपने लिए वह वनों और उपवनों की अपेक्षा भी रखती है। आज जिस प्रकार आबादी बढ़ती जा रही है, उसके चलते जब पुरानी अमराइयां ही कट गयीं, बाग ही कटते चले गये तो फिर से उनके बीच उपवन लगाने की बात करना युक्तिसंगत नहीं लग सकता है। पर ध्यान देने से और विचार करने पर गांवों में भी इसकी सार्थकता स्पष्ट होती है। गांवों और गांव समूहों के बीच यदि, स्थान की सुविधानुसार, छोटे-बड़े उपवन, भले ही वह केवल फलदार वृक्षों के ही क्यों न हों, लगते रहें तो गांवों की खेती अधिक समृद्ध होगी। गांव में इस प्रकार लगाये जाने वाले उपवनों में अब केवल फलदार वृक्षों से ही काम नहीं चलने वाला है। आज की स्थिति को देखते हुए उनमें फलियों वाले वे पेड़ भी लगाने पड़ेंगे जो गांव के पशुओं को चारा प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार के भारतीय पेड़ों की कमी नहीं है पर दुर्भाग्य से हम इन्हें पिछली दो शताब्दियों से भूलते गये हैं। ऐसे पेड़ों की आवश्यकता दो कारणों से आ पड़ी है। एक तो जैसा पहले कहा गया है बढ़ती आबादी के कारण जमीन कम होती गयी है और आज बड़े-बड़े चरागाह सपना हो गये हैं। अतः अगर गांवों में दूध देने वाले स्वस्थ पशुओं को रखना है तो चारे के पेड़ों के उपवन या उपवनों में चारे के पेड़ उगाना ही विकल्प रह गया है। जैसे अब शहरों में एक मंजिली इमारतों की जगह पंद्रह और बीस मंजिली इमारतें बनने लगी हैं वैसे ही गांवों में भी एक मंजिली खेती की जगह तीन मंजिली खेती करनी पड़ेगी। तभी अन्न और चारे की कमी पूरी हो सकेगी।

बहरहाल गांवों और गांव समूहों के बीच ग्राम्य उपवनों अथवा वनों से लगे

वनों के बाहर और आदमियों की वस्ती के वीच मानवकृत उपवनों की वात यदि अभी न भी की जाये तो भी शहरों के बीच, शहर चाहे छोटे हों अथवा वड़े, छोटे और वड़े उपवनों की तो अनिवार्यता हो गयी है। अगर शहरों के वीच पुराने उपवनों को सुरक्षित न रखा गया, उन्हें सजाया संवारा न गया तो शहरों में सांस लेना भी मुश्किल हो जायेगा। नयी वस्तियां वनाते समय उद्यानों और उपवनों को उनका अनिवार्य अंग मान कर ही उनकी योजनाएं वनानी पड़ेंगी अन्यथा शहर में रहने वाले लोग न केवल प्रकृति से दूर हट जायेंगे वरन् जिन गाड़ियों, वसों पर वे चढ़ते हैं और जिन सड़कों पर उनसे निकलने वाले धुएं फैले रहते हैं उनके फेफड़ों में मधुमक्खी के छत्ते की तरह की एक वाहरी वस्तु पैदा कर उनका जीवन दुखमय और छोटा करते चले जायेंगे। शहर का आदमी आज भी जिन नाना प्रकार के रोगों का शिकार होता चला जा रहा है और जिनके उपचार के लिए न तो दवाएं मिल रही हैं न औषधालय और चिकित्सालय पर्याप्त हैं उसका प्रधान कारण स्वस्थ और संतुलित पर्यावरण का अभाव ही है। पहले से वने वनाये वाग-वगीचों और उपवनों को वेरहमी से काट कर जिस प्रकार इमारतें वनायी जा रही हैं उसके द्वारा मनुष्य स्वयं अपने गले पर छुरी चला रहा है। उदाहरण के लिए लखनऊ की उन इमारतों को ही लिया जा सकता है, जो "राज भवन कम्पाउंड" नाम की वस्ती के रूप में वनी है। कभी इसी जगह एक वहुत अच्छा उपवन होता था। यदि उसे राज्यपाल का निजी उपवन न वनाकर आम आदमी के उपयोग के लिए खोल दिया गया होता तो वह कहीं अधिक लाभदायी कदम होता। इमारतें तो थोड़ा हट कर शहर के वाहर या जमीन की कमी के कारण कई मंजिली भी वन सकती थीं।

वढ़ती हुई आवादी और टुकड़ों में वंटी सोच की प्रक्रिया का नतीजा यह है कि हम जो भी विकास की, समृद्धि की योजनाएं वनाते चले जा रहे हैं, उनमें वनों और उपवनों का ही नाश होता चला जा रहा है। यह प्रक्रिया एक वार शुरू हो जाने पर रुक नहीं पा रही है। वन कटते और घटते जा रहे हैं। उनकी जगह जो मानवकृत वन लग रहे हैं, उनमें वन्य पशु अपना निसर्ग वासस्थान नहीं पा रहे हैं। अतः उनमें भी कमी आती जा रही है। वावजूद सरकारी प्रयत्नों के अपने देश में वनों का अनुपात उस सीमा तक नहीं पहुंच पा रहा है जो आज की दशा में कम से कम और अनिवार्य माना जाता है। इस संवंध में योजना आयोग की छठी पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में जो वात कही गयी है वह ध्यान देने योग्य है। योजना आयोग का कहना है कि "वास्तव में देश के भू-धरातल की 12 प्रतिशत से अधिक भूमि समुचित रूप से वृक्षों से आच्छादित नहीं है। जब कि वर्ष 1952 की राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार 33 प्रतिशत लक्ष्य निश्चित किया गया था। इसके अतिरिक्त 130 लाख हेक्टेयर भूमि को "स्थायी चरागाहों" के रूप में वर्गीकृत किया गया है। किंतु यह क्षेत्र वास्तव में अधिक चराई अथवा अनधिकार अतिक्रमण के फलस्वरूप पूरी तरह से वनस्पति रहित है।" इससे वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। वढ़ती आवादी "स्थायी चरागाह" नहीं रहने देगी। पर अपने खाने-पीने के लिए आदमी को मांस और दूध तो आवश्यक होगा ही। दूध

और मांस देने वाले पशु चारे के बिना नहीं रह सकते। अतः कम जमीन पर चारे के पेड़ों के उपवन लगा कर ही इस कमी को पूरा किया जा सकता है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह बात कही गयी कि अब लगे या लगाये जाने वाले उपवनों में केवल पुष्प पादप ही नहीं, दूसरे प्रकार के चारे वाले पेड़ों के उपवन भी तैयार करना जरूरी हो गया है।

वन-उपवन को राम-लक्ष्मण की जोड़ी मान कर उन्हें अपने व्यक्तिगत जीवन में, और सामाजिक जीवन में भी आदर्श दर्जा देना होगा। उन्हें पूज्य मानना होगा, और यह मान कर चलना होगा कि यह दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। एक के न रहने पर दूसरा भी नहीं रहेगा। वनों के अभाव में, जो पादपीय भंडार होते हैं, हमें उपवनों में लगाने के लिए वे वृक्ष, लताएं और गुल्म नहीं मिलेंगे, जिनसे इन उपवनों की शोभा और उपादेयता बढ़ती है। इसी प्रकार उपवन हमें नये-नये वृक्षों और वनस्पतियों की खोज और संकर प्रजनन के प्रयोग का अवसर देते रहेंगे, जिनको उत्पादित कर स्वयं-जात होने के लिए वनों में छोड़ते रहना होगा। इस द्विविध प्रक्रिया से ही हमारी वनस्पतियां बढ़ती रहेंगी, उनका परिवार और समाज बढ़ता रहेगा। उनके बढ़ते रहने से मानव समाज भी सुखी और समृद्ध होता रहेगा, उसका पर्यावरण स्वस्थ और संतुलित रहेगा। इन वनों और उपवनों को देखते हुए वह वैसे ही सुखी होगा "ज्यों बड़री अंखियां निरखि आखिन को सुख होत।"

फलदार वृक्षों का पर्यावरण

फलदार वृक्ष लगाने का दूसरा नाम बागवानी है। केवल फलदार वृक्ष लाकर मिट्टी में लगा देने से ही इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। फलदार वृक्ष लगाने वाले को यह जानना भी जरूरी होता है कि पेड़ों को लगाना, उनकी रक्षा करना और उनसे सुख भोगना एक कला है। चूंकि वृक्ष भी जीवधारी हैं अतः उनके साथ वर्ताव करते समय उनके आयुर्विज्ञान और उनके शरीर विज्ञान को भी जानना जरूरी होता है। इस प्रकार पेड़ लगाना विज्ञान भी है। इसलिए उद्यान विज्ञान नाम से एक नये शास्त्र की रचना भी आरंभ हो गयी है। जो लोग फलदार वृक्ष लगाकर उन्हें अपनी जीविका का साधन बनाते हैं, उन्हें इस नये शास्त्र का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इस ज्ञान और विज्ञान को सुलभ कराने के लिए विशेष विद्यालय भी खोले गये हैं, जहां भावी बागवानों को व्यावहारिक प्रशिक्षण और शास्त्रीय ज्ञान देने का प्रबंध किया गया है। पर केवल प्रबन्ध कर देने से ही वे बाग नहीं लगेंगे। जब तक उन लोगों की रुचि, जिनके पास जमीनें हैं और जो जमीन के सहारे अपनी जीविका चलाना चाहते हैं, इस ओर नहीं बढ़ेगी और जब तक उन फलदार वृक्षों और सामान्य खेतों के अंतर और आय की तुलनात्मक स्थिति का ज्ञान नहीं होगा, तब तक फलदार वृक्ष नहीं लगेंगे। इतना ही नहीं उन्हें अच्छे किस्म के फलदार वृक्षों को उपलब्ध कराने का भी प्रबंध करना होगा और पौधशालाएं तैयार करने का प्रशिक्षण भी देना होगा। उचित तो यही होगा कि फलदार वृक्ष लगाने वाले स्वयं अपनी नर्सरी या पौधशाला भी तैयार करते रहें और उसकी तकनीक और विज्ञान को भी जानते रहें।

अतः फलदार वृक्ष लगाने की आवश्यकता की बात करने से पहले उसमें उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों की भी थोड़ी छानबीन आवश्यक है। यह इसलिए और भी जरूरी है कि हम उस देश में रहते हैं जहां फलदार वृक्षों की इतनी महत्ता गायी गयी है कि उन्हें देवत्व तक प्रदान कर दिया गया था। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि भारत में ईस्वी सन् से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही लोगों को न केवल फलदार वृक्षों का महत्व मालूम था वरन् आज जिसे हम ग्राफ्टिंग या उपरोपण कहते हैं, और जिसे बडिंग या कुंड मन कहते हैं वह भी मालूम थी। उसी देश में अगर फलदार वृक्षों के प्रति लोगों के मन में उपेक्षा का भाव घर कर गया हो और अगर लोग फलों को केवल अमीरों और

रोगियों के लिए ही आवश्यक मानने लगे हों तो जरूर कहीं सोचने की जड़ में ही घुन लग गया है। ऐसा क्यों हुआ इसके कारणों को जानना जरूरी है। अंग्रेजी शासनकाल में जिस उपनिवेशवादी नीति से इस देश को पराधीन किया गया और जिस प्रकार की शासन नीति अपनाई गयी उसमें अपनी सुरक्षा और आय को बढ़ाते रहने का एक प्रमुख उपाय जमींदारी प्रथा को और मजबूत करना था। इसके चलते जमीन से उत्पादन तो किया और कराया गया पर उसके प्रति विछोह और उदासीनता की प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी।अतः भारतीय कृषक मिट्टी कीपहचान भूलता गया। उसी देश का कृषक जो पेड़ों की पत्तियों को देखकर मिट्टी की किस्म और उसमें होने वाले तत्त्वों की कमी को वता देता था अपनी धरती को भी भूल गया। अतः वह गरीव होता गया। उससे जो कराया गया वही करने को वाध्य होता गया और इस प्रकार देश के अधिकांश भाग पर केवल खेती ही खेती नजर आने लगी। अंग्रेजों ने अपनी आराम की जगहों को आम भारतीयों से अलग रखा। उन्हें वहां जाने पर भी डर और संकोच पैदा हो ऐसी व्यवस्था की और जिस प्रकार का रहन-सहन अपनाया उसमें गरीव जनता के लिए यही नजर आता था कि वाग और फल गरीवों के नहीं अमीरोंके ही हैं। वीमार होने पर चिकित्सक शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर भी, और रोगी की आवश्यकता के कारण भी कुछ फलों का सेवन वताते थे। पर वे फल सर्वसुलभ नहीं थे। अतः अनुपान के रूप में रुग्णावस्था तक ही उनका सेवन कुछ को संभव होता रहा। पर आजादी के वाद जव इन दोनों स्थितियों में परिवर्तन हुआ, शिक्षा और ज्ञान की सुविधा वढ़ी, तो भी दो कठिनाइयां वहुत दिनों तक वनी रहीं। और उनमें से एक तो अभी भी वनी है।

जैसा कि सभी जानते हैं अन्न के मुकाविले फल कम टिकाऊ होते हैं। उनका भंडारण उतना सुकर नहीं जितना अन्न का। जव फलों को पेड़ से उतारने के वाद उन्हें कुछ दिनों तक ही रखा जा सकता है, तव फल की खेती करने वाले वागवान के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह उन्हें जल्दी से जल्दी वेच दे। नतीजा यह होता है कि विचौ-लियों के लिए एक सुरक्षित स्थान मिल जाता है। ये फलों का जोग और भोग करने वाले दोनों तरह के लोगों का शोषण करते रहते हैं। यदि भंडारण की सुविधा स्थानीय रूप से मिल जाये तो कुछ फल ऐसे होते हैं जिन्हें काफी दिनों तक सुरक्षित रखा जा सकता है। सेव उनमें से ऐसा ही एक फल है। सेव की खेती या वागवानी वहुत ही लाभप्रद हो सकती है। हिमांचल प्रदेश और जम्मू कश्मीर इसकी जीती जागती मिसालें हैं। वहां शीत-गृहों का निर्माण कराकर शासन ने किसानों को यह सुविधा प्रदान की है। भंडारण की सुविधा रहने पर भी कुछ फल ऐसे होते हैं जिन्हें शीतगृहों में भी रखना लाभदायक नहीं हो सकता। अतः यदि आवागमन और यातायात की सुविधा रहे तो उत्पादक उन्हें शीघ्र उन स्थानों पर पहुंचा सकता है जहां उनकी मांग या खपत अच्छी होती है। पर याता-यात की कठिनाई फलदार वृक्षों की वागवानी करने वालों के आड़े आती है। यह कठिनाई भी वहुत हद तक आजादी के वाद दूर हुई है। यहां तक कि पहाड़ी इलाकों में भी जहां सड़कें कभी नहीं थीं, वहां सड़कें वनी हैं और वनती जा रही हैं। पर सड़कों

दूसरे क्षेत्र अर्थात् कम ऊंचाई और तराई के क्षेत्रों में नींबू की सभी प्रजातियां, शरीफा, लीची, लुकाट, अनार, अंजीर आदि को देखा जा सकता है। मैदानी इलाके में उगने वाले फलों में आम, अमरूद, केला, पपीता, फालसा, अन्ननास आदि फलों से सभी परिचित हैं। पर अपने देश की मिट्टी पानी की कुछ ऐसी विशेषता है कि थोड़ा सा ध्यान देने और तदवीर तथा देख-रेख करने से प्रायः बहुत से फल ऐसे हैं जो सामान्यतः ऊंचाई पर होने वाले हो कर भी मैदानी इलाके में पैदा किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए बादाम और आड़ू को ही लिया जा सकता है। इसे मैदानी इलाकों में लोगों ने सफलतापूर्वक लगाया है। अंगूर भी इसी प्रकार मैदानी इलाकों में, यहां तक कि दक्षिण भारत के उष्ण हिस्सों में भी बहुतायत से होने लगा है।

असली जानकारी और भरोसा जो लोगों को नहीं मिल पा रहा है वह आनुपातिक आय का है। अर्थात् अगर यह कहा जाये कि एक एकड़ सेब से लगभग पांच हजार रुपये साल की आमदनी हो सकती है और इसके अतिरिक्त उसी में आलू और टमाटर भी पैदा किया जा सकता है जो जायद फसल के रूप में आय के स्रोत को और बढ़ा सकता है तो लोग उस ओर अधिक रुचि लेने लगेंगे। इसी प्रकार गन्ने और गेहूं या धान से क्रमशः प्रति एकड़ 500 रुपए और 250 रु० की आय आंकी गयी है। जब कि उन्हीं प्रदेशों में पपीते से प्रति एकड़ 2000 और केले से प्रति एकड़ 1000 की आय हो सकती है। लेकिन इस बात का भरोसा दिलाने और किसान की स्थिति को समझते हुए उसे अपने हानि-लाभ का ज्ञान कराने का साग्रह और सफल प्रयत्न नहीं हो सका है। सरकारी बागों में जो खर्च होता है वह साधारण किसान नहीं उठा सकता। पर अगर फलोद्यान लगाने वाले अपना संघ बना कर अपनी बिक्री और अन्य समस्याओं का समाधान करने का संकल्प कर लें तो फलों की खेती से कहीं अधिक आय हो सकती है। हिमाचल प्रदेश के फल उत्पादकों ने इस दिशा में बड़ा ही सराहनीय और पथप्रदर्शक काम किया है। पंजाब के मैदानी इलाके में भी लोगों ने इस दिशा में नेतृत्व किया है। दक्षिण में भी इस प्रकार के सराहनीय काम हुए हैं। उनकी सफलताओं की कहानी को विस्तार से यदि अन्य प्रदेशों के लोगों को भी बताया जाये और उनको पूरी सुविधा प्रदान की जाये तो फलों की खेती सामान्य खेती से अधिक आय देने वाली है।

लुसीना : एक अनोखा पेड़

लुसीना जिसको हिमाचल प्रदेश में क्वा करमड़ू का नाम दिया गया है और जो अन्यत्र कू बबूल या सू बबूल के नाम से विख्यात है उसकी विशेषता के बारे में विस्तार से जानना कई कारणों से आज के पर्यावरण के संदर्भ में बहुत आवश्यक हो गया है। इसकी 100 से भी अधिक प्रजातियां हैं जिनको तीन किस्मों में विभाजित किया गया है। हवाई द्वीप के वृक्ष झाड़ीदार होते हैं और इनमें सारे साल फल और फूल आते हैं। सेलवाडोर किस्म, लकड़ी और चारा दोनों के लिए उगाया जा सकता है। जब कि पेरु किस्म, चारा तो अधिक देता है परंतु इससे चिरानी लकड़ी कम उपलब्ध होती है क्योंकि इसके तने के ज्यादा हिस्से पर शाखें होती हैं। अधिक उपज देने वाला सेलवाडोर किस्म जो कि चारा, लकड़ी, लुगदी की लकड़ी और जलावन की लकड़ी पैदा करने के लिए उगाया जाता है, मुख्यतः हवाई जाइंट या के-8, के-28 या के-67 के नाम से प्रचलित है।

क्वा करमड़ू या कू बबूल या सू बबूल वृक्ष का प्रायः हर भाग उपयोगी है। इससे चारा, जलावन की लकड़ी, इमारती लकड़ी और खाद उपलब्ध होती है और यह पहाड़ों और मैदानों दोनों जगह वृक्षारोपण के लिए उपयुक्त है। इस पर विस्तार से विचार करते समय हम इसे क्या नाम दें यह भी जरूरी जान पड़ता है। बबूल के पेड़ से आम आदमी परिचित है पर उसकी उपज और उपयोग चूंकि अभी तक सीमित थी और उसमें कांटे अधिक होते हैं अतः शायद यह रुचिकर न हो। इसके नाम के पहले "सू" लगा देने से इसकी प्रकृति और पहचान को समझने में आसानी तो होगी और शायद अधिक ग्राह्य भी। अतः आम फहम सू बबूल ही होना चाहिए। लेकिन एक बात दृष्टव्य है। यह पेड़ मूलतः अमेरिका में पाया जाता है। इसका नाम लुसीनिया ल्युकोसेफाला है। अतः इसका भारतीयकरण लुसीना हो सकता है। हमने बहुत से शब्दों को उसके नामों का भारतीयकरण करते हुए यथावत ग्रहण किया है। अतः इस लेख में भी वही प्रक्रिया अपनाते हुए इसे हम लुसीना ही कहेंगे।

चारा

लुसीना के पत्ते अति उत्तम चारा प्रदान करते हैं और इसका चारा अल्फा-अल्फा के मुकाबले का होता है।

इमारती लकड़ी

इमारती लकड़ी की सालाना पैदावार लगभग 30 से 40 क्यूसिक मीटर प्रति हेक्टेयर है। पेड़ों के व्यास में बढ़ोतरी औसतन 2-3 सें० मी० सालाना की होती है। लुसीना की लकड़ी मजबूत और आकर्षक होती है और इस पर सफाई भी अच्छी आती है। यह लकड़ी लुगदी, कागज और रेआन की लुगदी बनाने के लिए उपयुक्त है।

खाद

लुसीना हवा से नाइट्रोजन अपनी जड़ों में एकत्रित करने की क्षमता रखता है। इसकी फसल प्रतिवर्ष लगभग 500 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर एकत्रित कर सकती है जो कि 2500 किलोग्राम अमोनियम सल्फेट के बराबर है। नाइट्रोजन एकत्रित करने के लिए इसकी जड़ों में उपयुक्त राईजोबीयम होना आवश्यक है। लुसीना के पत्ते हरी खाद के लिए भी प्रयोग में लाये जाते हैं। पत्तियों की खाद मात्रा प्रति टन (सूखे वजन पर) निम्नलिखित होती है :

तत्त्व	किलोग्राम प्रतिटन
नाईट्रोजन	20.2—36.0
फासफोरस	1.5— 3.0
पोटेशियम	13.4—23.7
कैलशियम	7.5—20.3
मैगनिशियम	3.5— 9.8

अच्छी भूमि और सिंचाई के साधनों के साथ एक हेक्टेयर लुसीना की फसल से जो पत्ते हरी खाद के लिए मिलेंगे उनमें 500 से 600 किलोग्राम नाईट्रोजन होगी। अनुमानतः हरी खाद की नाइट्रोजन का लगभग 40 प्रतिशत भाग ही कृषि फसलों को उपलब्ध होता है। नाइट्रोजन के अलावा लुसीना की पत्ती की हरी खाद प्रति हेक्टेयर लगभग 44 किलोग्राम फासफोरस और 187 किलोग्राम पोटेशियम भी उपलब्ध कराती है। इसके अलावा हरी खाद डालने से भूमि सुधर जाती है और अधिक पैदावार देती है। लुसीना के पत्तों को हरी खाद के रूप में प्रयोग करने से कृषि फसलों की पैदावार काफी बढ़ जाती है।

लुसीना कहां लगाना चाहिए

लुसीना गर्म इलाकों में ही होता है हालांकि इसमें विभिन्न जलवायु के क्षेत्रों में भी उगने की क्षमता है। इसकी पैदावार ऐसे क्षेत्रों में अच्छी होती है जहां कि वार्षिक वर्षा 600 से 1700 मि० मी० तक है हालांकि यह ऐसे क्षेत्रों में भी उग सकता है जहां कि वार्षिक वर्षा केवल 250 मि० मी० ही हो। अधिक ठंडा और पाला इसको नुकसान पहुंचाते हैं और इसके पत्ते सूख जाते हैं परंतु पौधे पूरी तरह नहीं मरते और ग्रीष्म ऋतु

आस्ट्रेलिया, फीजी से प्राप्त बीजों के साथ-साथ दक्षिण भारत में सामान्यतया उगने वाली प्रजाति के बीजों को भी शामिल किया गया। इनकी पैदावार और उपयोगिता को देखने के लिए लखनऊ में कुकरैल, बरेली में क्लटरबकगंज, नैनीताल जिले में लालकुआं और जिउलीकोट चार स्थानों को चुना गया। इस परीक्षण और अध्ययन के आधार पर यह पाया गया कि फीजी किस्म की लुसीना पौध लगाने के बाद 68 प्रतिशत बच रहती है, एक साल में 5.05 मीटर ऊंची हो जाती है और 5-5 सें० मी० मोटी हो जाती है। इसी अवधि में के-8 42 प्रतिशत जीवित रहती है 5.0 मीटर ऊंची होती है और 4.0 सें० मी० मोटी होती है। के-72 की जिजीविषा 71 प्रतिशत ऊंचाई 1.75 सें० मी० और मोटाई 3.0 सें० मी० कनिंघम प्रजाति 43 प्रतिशत जीवित रहती है, 3.1 मीटर बढ़ती है और 4.0 सें० मी० मोटी होती है। इन परीक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि लुसीना गर्म प्रदेशों में बहुत ही अधिक फली, तेज बढ़ने वाला और चारे के लिए अत्यंत उपयोगी पेड़ है। लकड़ी इससे विशेष रूप में सुलभ होती है और यह पहाड़ी तथा मैदानी इलाकों दोनों के लिए उपयोगी है।

कोई पूछ सकता है लुसीना ही क्यों? चारे, लकड़ी और जलावन के रूप में उपयोगिता का कुछ जायजा तो ऊपर कही बातों से ही मिल गया होगा। पर यह अन्य प्रकार से भी उपयोगी और अनोखा पेड़ है। इसको समझने के लिए बहुत लिखने के बजाय कुछ चित्र उपस्थित करना अधिक आकर्षक और उपयोगी होगा। ये चित्र यद्यपि विदेशी परिवेश के हैं पर भारतीय कृषकों और दूसरे लोगों को भी आकर्षक प्रतीत होंगे। इन्हें देने का एक उद्देश्य यह भी है किको लोगों इस प्रकार का प्रयोग करने की ओर भी रुचि बढ़ेगी।

पर्वतीय विकास : एक व्यावहारिक अनुभव

पर्वतीय विकास के संबंध में लिखते समय मैं केवल हिमालय क्षेत्र से सीमित रहना चाहूंगा। हिमालय संसार की उच्चतम और सबसे अधिक विस्तृत पर्वत शृंखला होते हुए भी पर्वतीय परिवार में सबसे अल्पवयस्क है ऐसा सभी मानते हैं। कालिदास ने इसे वत्स के रूप में देखा है। पर यह भी माना है कि यह नाना रत्नों और ओषधियों से भरा पड़ा है। उसी रत्न-गर्भ क्षेत्र से ओषधियों का आज विनाश होता जा रहा है। जो भारत की सभी बड़ी और महत्वपूर्ण नदियों का प्रवाह क्षेत्र हो उसका जलागम मिट्टी और रेत से पटता जा रहा है। नदियों के उथली होते जाने के कारण मैदानी इलाके में बाढ़ और सूखा दोनों ही त्रास उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में हिमालय के किसी भाग के विकास के लिए, चाहे वह कश्मीर हो याकि हिमाचल, उत्तरप्रदेश का पर्वतीय क्षेत्र हो अथवा नेपाल याकि और कोई पूर्वी अंचल, सभी के लिए एक विशेष दृष्टि अपनानी होगी। यह विशेष दृष्टि वही अपना सकते हैं जो विराट पुरुष के समान "भूमि विश्वतो धृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्" की अवस्था में अपने को रख सकें।

मैं इस विशेष दृष्टि की बात को थोड़ा और स्पष्ट कर देना चाहता हूं। पर्वतीय क्षेत्र के विकास में वही लोग कारगर हो सकते हैं जो वहां के निवासी तो रहे पर साथ ही जिन्हें समान भू-भौगोलिक स्थिति वाले दूसरे क्षेत्रों के विकास का भी सम्यक ज्ञान हो। तभी उनमें वह विवेक और साहस आ सकता है जो उस क्षेत्र से आसक्त रहने पर भी उसे उसके बाहर से भी देखता रहता है। बाहर से मेरा अभिप्राय ऊपर उठकर देखने से है। तभी इन क्षेत्रों का विकास चाहने वालों में वह सम्यक दृष्टि आ पायेगी जिसकी आज नितांत आवश्यकता है। केवल प्रभूत धन खर्च कर देने और उसी पैमाने को अपनाने से जो मैदानी क्षेत्रों के लिए अपनाया जाता है कदापि सफलता नहीं मिलेगी।

इन पर्वतीय क्षेत्रों को ऊपर से देखने पर ही उनके उन जलागम क्षेत्रों का दर्शन होगा जिनका समूह ही ये पर्वतमालाएं हैं। इन्हीं क्षेत्रों से वह जलप्रवाह निरंतर और नदियों से होता चला आ रहा है जिसके कारण मैदानी क्षेत्रों में संपन्नता दिखायी देती है। यदि इन पर्वतीय क्षेत्रों के इन जलप्रवाहों में ऐसे ही मिट्टी आती रही, जैसी कि आज आ रही है तो गंगा-यमुना का यह उत्तर भारत सदा सर्वदा के लिए संदिग्ध है

जायेगा। अतः इन जलागम क्षेत्रों में निःसर्ग उगती हुई वनस्पतियों का नाश रोकना ही पड़ेगा। पर्वतीय क्षेत्रों में विशेषकर, पर सामान्यतया अब सभी क्षेत्रों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि एकांगी दृष्टिकोण का त्याग किया जाय। प्रशासनिक दृष्टि से भले ही वन, फलोद्यान, सिंचाई, भू-संरक्षण विभाग आदि बने रहें पर विकास के लिए और बढ़ते हुए विनाश को रोकने के लिए इस प्रकार के बहुत से विभागों को एक साथ मिलकर काम करना होगा। फिर भी यह काम अकेले सरकारी विभागों के बश का नहीं है। जब तक उन्हें जन सहयोग नहीं मिलता उनका सारा परिश्रम व्यर्थ जायेगा और उनके माध्यम से होने वाला खर्च भी उसी मिट्टी के समान पानी में बहता रहेगा।

पर जन-सहयोग तभी मिल सकता है जब जनता इन पर्वतों को, उन पर उगने वाली वनस्पतियों को, और उनसे होने वाली राष्ट्रीय समृद्धि को पहचाने। वनस्पतियां राष्ट्रीय समृद्धि हैं इसकी जानकारी और इसका ज्ञान केवल भाषणों और पुस्तिकाओं अथवा लेखों के माध्यम से ही नहीं कराया जा सकता। कहा जाता है पैसा पैसे को खींचता है। अर्थात् समृद्धि आने पर ही समृद्धि बढ़ती है। जिन परिवारों के लोग पुश्त दर पुश्त खोखले पेट और धंसी आंखें लिए आये और चले गये उनके सामने यह बातें बेमानी हो जाती हैं। यदि वनस्पतियां समृद्धि हैं तो इन्हें अपने बीच रहने वालों को भी समृद्धि बनाना होगा। इस लेन-देन में ही आदमी और वनस्पतियों का रिश्ता कायम होता है। इन क्षेत्रों में रहते हुए कोई भी व्यक्ति एकाकी या तपस्वी जीवन नहीं बिता सकता। बिताना भी नहीं चाहिए। समृद्धि का विवेकपूर्ण भोग ही उसे और उदात्त करता है। बढ़ाता रहता है। इनका एक समृद्ध कौटुंबिक जीवन होगा। इस कुटुंब की कल्पना इनके पशुओं को अलग रखकर नहीं की जा सकती। फिर इन पर्वतों की शोभा देखने आने वाले बाहरी लोग भी इनके पास आयेंगे। इन सबकी अलग-अलग आवश्यकताएं होंगी। पर्वतीय क्षेत्रों में सनातन से रहने वालों के कौटुंबिक जीवन की परिकल्पना उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करना होगा। इन कुटुंबों के जोड़ से नहीं प्रत्युत इनकी समष्टि से जो बृहत्तर समाज बनता है उसकी रूपरेखा को समझना आसान भी नहीं है। इसलिए कठिन है कि ये क्षेत्र ऊंचाइयों में भी फैले हैं। इनका विस्तार त्रिमुखी है। जिस प्रकार सिनेमाघरों में (थ्री डाइमेंशनल) त्रिदिकीय तस्वीर देखने के लिए एक विशेष प्रकार का चश्मा लगाना पड़ता है उसी तरह पर्वतीय क्षेत्र के विकास के लिए भी एक विशेष प्रकार का चश्मा लगाना पर्वतीय क्षेत्र के विकास के लिए भी एक विशेष प्रकार की समझ उत्पन्न करने की जरूरत है।

जिस कौटुंबिक समाज की बात ऊपर कही गयी है उसके अंगों पर विचार करना जरूरी है। मनुष्य तो सभी जगह समाज का चेतन प्राणी है। अभी तक कुटुंब में पशु-पक्षियों और वृक्षों को शामिल करने की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया है। जितनी भी योजनाएं बनती हैं उनमें पशुओं और वनस्पतियों के विकास की बात अलग से की जाती है। यह एक मौलिक गलती है। भारत में, कम से कम प्राचीन भारत में पशु-पक्षी

और वृक्षों को कुटुंब के सदस्य के रूप में देखने की दृष्टि थी। पर हम अपनी इस परंपरा को, इस विरासत को भूल गये। यह भी हमारी सांस्कृतिक आध्यात्मिक और भौतिक अवनति का कारण बना। यद्यपि यह दृष्टि सभी क्षेत्रों के विकास में फिर से अपनाना जरूरी है किंतु पर्वतीय क्षेत्रों के लिए तो अनिवार्य है। इसके बिना हम इन क्षेत्रों के विकास को सफल कर ही नहीं सकते। वृक्ष सामान्यतया भले ही अचेतन प्राणी लगें पर यह वैज्ञानिक सत्य नहीं है। अतः उन्हें चेतन जगत में प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। ऐसा करके ही हम उनका आदर भी करेंगे और उनकी शुभकामनाएं भी प्राप्त करेंगे। पशुओं के प्रति प्रेम की बात तो बहुत की जाती है और कभी-कभी उसका व्यावहारिक रूप भी देखा जाता है पर व्यवहार में यह प्रेम पालतू जीवों तक ही सीमित हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम उन्हीं पशु और पक्षियों के प्रति प्रेम रखते हैं जो पालतू बनते हैं अथवा बनाये जा सकते हैं। इस संकुचित दृष्टि से भी उबरना जरूरी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे कुटुंब के सदस्य वृक्ष और पशु भी हैं। अतः हमारा समाज मनुष्य, पशु और वृक्षों में बनता है। यह इसी रूप में अपनी समग्रता को चरितार्थ कर सकता है। अन्य किसी रूप में नहीं। यह बृहत्तर समाज का असली रूप है। विकास कार्यों के लिए, पर्वतीय क्षेत्रों की समृद्धि के लिए, इस बृहत्तर समाज को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न करते हुए इसके कौटुंबिक रूप को और स्पष्ट देखना होगा। इनके कौटुंबिक रूप में अथवा कुटुंब की परिभाषा में मनुष्य, दूध और मांस देने वाले पशु, अंडा, मांस और पर, देने वाले पक्षी तथा फल, ईंधन और चारा, देने वाले वृक्ष शामिल करने पड़ेंगे।

मनुष्य चेतन होने के कारण या यों कहें कि अधिक सचेत और विचारशील होने के कारण स्वभावतः इस कुटुंब का कर्ता बन जाता है। वही अपनी सीमाओं का निर्धारण करता है तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने कुटुंब का विकास और पालन-पोषण करता है। उसकी विचारशीलता अथवा विवेक, आज के संदर्भ में, इसी बात में है कि वह इस कुटुंब में मनुष्य जाति की संख्या को सीमित रखे, तथा पशु और वृक्ष जाति के सदस्यों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि करे। यहां फिर उससे विवेक की अपेक्षा की जाती है। पशु और वृक्ष जाति की संख्या में वृद्धि करते समय उसे बराबर इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि वह उन्हीं को अपने कुटुंब में शामिल करे जो उसके सहयोगी बन सकें और उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर कुटुंब की समृद्धि में सहायक हो सकें। ऐसा करते हुए वह अपनी सुविधानुसार इनकी अनेक प्रजातियों में से अपने कुटुंब का सदस्य बनने योग्य प्रजाति का चुनाव करता रहेगा। सामान्य रूप से इस वर्ग में वह सभी पशु-पक्षी और वृक्ष आ जायेंगे जिनकी प्रकृति का ऊपर जिक्र हुआ है। पर जरूरी नहीं कि पहाड़ों में बसने वाले मनुष्यों के कुटुंब के सभी सदस्य एक ही प्रजाति के हों। वर्ण भेद तो नहीं होगा पर कौटुंबिक विविधता बनी रहेगी। जब हम यह अवधारणा स्पष्ट कर लेते हैं और अपनी सुविधानुसार अपने लिए पशुओं और वृक्षों का चुनाव कर लेते हैं तो कर्ता के नाते यह मनुष्य की ही जिम्मेदारी हो जाती है कि अपने कुटुंबी पशुओं को स्वस्थ जलवायु और स्वस्थतर चारा प्रदान करने की भी

व्यवस्था करे। इसी प्रकार वृक्षों या अन्य ओषधियों के लिए भी समुचित भूमि की व्यवस्था आवश्यक हो जाती है। मनुष्य पशु और वृक्षों को अन्योन्यान्य संबंध होते हुए भी यहां पशुओं और वृक्षों की आवश्यकता को विस्तार से देखना जरूरी है।

पशुओं को स्वस्थ जलवायु तभी मिल सकेगा जब उनका परिवेश वनस्पतियों और बहते हुए पानी से घिरा हो। उन्हें समीप ही चरागाहें उपलब्ध हों। पहाड़ों में इन चरागाहों को घासनियां कहते हैं। गांवों में और उनके बाहर ऐसे वृक्ष हों जो चारे वाले पेड़ हों। ऐसे बहुत से देसी पेड़ हैं, और अपने देश में इनकी बहुतायत भी थी, जिनकी पत्तियां पशुओं के चारे के काम आती थी, जिनके फल पक्षी और वृक्षों पर रहने वाले जानवर भी खाते थे और आवश्यकता पड़ने पर आदमी के काम भी आते थे तथा जिनकी लकड़ी इमारतों के काम आती थी। हिमाचल में इनकी छानबीन करने पर लगभग 54-55 प्रकार के ऐसे पेड़ों का पता भी लगा था और उनकी सूची भी बनी थी। ऐसा होना इसलिए भी जरूरी है कि पर्वतीय क्षेत्रों में पशुओं को खुला छोड़ देना अर्थात् अपने आप चरने देना बड़ा ही हानिकार है। ऐसा करने से दो प्रयत्क्ष नुकसान होते हैं। एक तो पशुओं को अपने चारे के लिए अधिक शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है अतः उनके दूध देने की सामर्थ्य कम हो जाती है। वे थकान का अधिक अनुभव करते हैं और यदि वे मांस देने का काम आने वाले हुए तो उनका वजन भी कम होता है। दूसरी हानि भूमि की होती है। खुले चरने वाले पशुओं के कारण भूक्षरण भी बढ़ता है विशेषकर बकरे, बकरियां तो वनस्पतियों सहित भूरक्षण के विनाश में बहुत सहायक होती हैं। इनके ऐसा करते रहने पर वनस्पतियों का विनाश भी अबाध रूप से चलता रहता है। इस प्रकार वनस्पतियों के विकास की संभावनाएं भी मद्धिम पड़ जाती हैं। अतः पर्वतीय क्षेत्रों के कौटुंबिक जीवन के सदस्य पशुओं की प्रधान आवश्यकताओं में स्वस्थ जलवायु और स्वस्थ भोजन तभी उपलब्ध हो सकता है जब उनका परिवेश विशेष प्रकार, से संयोजित हो, उनका आहार और उनके लिए पेय जल समीपस्थ हो, और वह घरों में अथवा बाड़े में बंद रखे जायें और उनकी चरागाहें भी घेरे बंद हों। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि हमें पर्वतीय क्षेत्र के गांवों की दृष्टिगत भू-विन्यास (लैंडस्केपिंग) इस प्रकार करनी होगी जिनमें यह सुविधाएं प्राप्त हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि हम भू-विन्यास शास्त्र और भू-सौंदर्य को भूल चुके हैं। यह हमारी दीर्घ दासता का परिणाम रहा है, पर इसे पुनः वापस लाने के लिए कोरी शब्द कल्पना से काम नहीं चलेगा। हम इस प्रकार की असफलता सामुदायिक विकास के अभियान में देख चुके हैं। इसे पुर्नस्थापित करने के लिए समुदाय के विवेक को जगाने के साथ-साथ उनको इससे होने वाले लाभ की आर्थिक पहचान भी कराना आवश्यक है। इस बात को उन्हें समझाने के लिए उनके आर्थिक पक्ष को उन्हीं की ज़बान में उन्हें समझाना होगा। आज उनका सहयोग सरकारी योजनाओं को इसलिए भी कम मिल रहा है कि उनकी जानी पहचानी, पर विस्मृत, अवधारणाओं के स्थान पर उन्हें विदेशी भू-भौगोलिक स्थिति की अवधारणाएं बहुत कुछ विदेशी भाषा के अनूदित शब्दों द्वारा

समझायी जाती हैं। फिर भी जहां की अवधारणाएं उनकी भू-भौगोलिक स्थिति से मिलती है वहां भाषा का व्यवधान भी मिट जाता है। हिमाचल में सेबों की खेती इस प्रकार की समान भू-भौगोलिक स्थिति में आर्थिक उन्नति की अवधारणा का सफल उदाहरण है।

जब एक बार गांव और उसका परिवेश इस प्रकार अपनी समृद्धि के लिए तत्पर हो जाता है तब वह अपने पशुओं और वृक्षों की रक्षा और लालन-पालन वैसे ही करता है जैसे अपना और अपने बच्चों का। तब यह सब उसके कुटुंबीजन होते हैं। वह अपने पशुओं के लिए स्वस्थ चारे और पानी का वैसा ही प्रबंध करते हैं, करने का प्रयत्न करते है जैसा अपने लिए। जब इन्हें स्वस्थ भोजन मिलेगा तो स्वभावत: इनके दूध और मांस में वृद्धि होगी। अधिक दूध और मांस बिक्री के लिए उपलब्ध होने लगेगा। मांस में अंडे शामिल समझना चाहिए। इसी प्रकार इस विकास प्रक्रिया में वे पक्षी भी शामिल हैं जो खाने के काम में आने वाले अंडे और व्यवसाय में काम आने वाले पर देते हैं। दुर्भाग्य से अभी तक मुर्गियों के अतिरिक्त अन्य उपयोगी पक्षियों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। "टर्की" पालन का व्यवसाय चलाया ही नहीं गया। मुर्गी की अपेक्षा टर्की अधिक पौष्टिक और स्वादिष्ट मांस प्रदान करते हैं। उन्हें बीमारियां भी कम होती हैं। इसका बड़ा ही सफल व्यवसाय कनाडा के कृषक कर रहे हैं। अन्य देशों में भी हो रहा है। भेड़ और बकरों का पालन, मांस, दूध और खाद की दृष्टि से उपयोगी होता है। इसी प्रकार बटेर, चकोर आदि कई अन्य पक्षी भी पर्वतीय क्षेत्रों की समृद्धि में सहायक हो सकते हैं। ऐसी दशा में एक और प्रकार के पशु और पक्षी गांव समाज में स्थान पा जाते हैं जो व्यावसायिक वर्ग में तो आते हैं पर गांव समाज द्वारा रक्षा और सुविधा की अपेक्षा रखते हैं। गायें केवल दूध के काम आती हैं अत: अंशत: व्यावसायिक भी होती हैं। पर उनका हमारे जीवन में एक विशेष स्थान है। दूध का आहार देने के कारण वह मातृस्थान को प्राप्त करती हैं और हमसे उसी आदर और सेवा भाव की अपेक्षा करती हैं। अत: पर्वतीय क्षेत्र में पशुधन का विकास बहुत ही उपयोगी और सार्थक प्रयास होगा।

वनस्पतियों में फलों की भी वृद्धि होगी। चारे और फलों के वृक्षों की बात कही जा चुकी है। चारे और ईंधन वाले वृक्षों का विकास कौटुंबिक अवधारणा के आधार पर गांव समाज को सुपुर्द करना होगा। तभी इनकी रक्षा भी होगी और उनकी पहचान वापस आयेगी। कई प्रकार के नये पेड़ नयी संभावनाओं के साथ गांव के परिवेश में स्थान पायेंगे। एक उदाहरण भी काफी होगा। पहाड़ी क्षेत्रों में जैतून के पेड़ जंगली रूप में पाये जाते हैं। उन्हें कहीं-कहीं काहू भी कहा जाता है। अभी तक ये उपेक्षित अवस्था में हिमालय के निचले भागों में पड़े हैं। इन्हें कलमी बना कर जैतून के फलों और उससे मिलने वाले तेल का बड़ा ही सफल उद्योग चलाया जा सकता है। इस प्रकार चारे, ईंधन और औद्योगिक वनस्पतियों के साथ-साथ फलदार वृक्षों की भी वृद्धि होगी जो खाने और उद्योग दोनों ही दृष्टियों से लाभकर होंगे। दूध, मांस, फल और अनेक प्रकार

की सब्जियों के साथ इन पर्वतों में मिलने वाले प्रभूत जल स्रोतों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया जा सका है। हिमाचल प्रदेश के कलाथ नामक स्थान पर (मनाली के निकट) ऐसे एक जल स्रोत से मिलने वाले खनिज जल को निर्यात के काम लाने की योजना सोची गयी थी। हमारे पर्वतीय क्षेत्र इस प्रकार के जल स्रोतों से भरे पड़े हैं पर हमने अभी तक उनकी खोज नहीं की। अस्तु। आहारप्रद वनों का विकास पर्वतीय क्षेत्रों में के रूप में विकास बहुआयामी बड़ी तेजी से हो सकता है और यहां के लोगों को पर्वतों को नंगा और बेसहारा छोड़कर मैदानी इलाकों में जाने से रोका भी जा सकता है। अगर पहाड़ के लोग मैदान में जाने से रुक जायें जैसा कि हिमाचल और कश्मीर में कुछ हद तक संभव हो सका है तो मैदानी इलाके के सड़क बनाने वाले इंजीनियरों और वन काटने वाले ठेकेदारों से पर्वतीय क्षेत्र को बचाया जा सकता है। तब जो सड़कें बनेंगी वह उन क्षेत्रों के निवासियों की आवश्यकताओं को देखकर बनेंगी। केवल मैदानी सैलानियों की चार दिन की सुविधा के लिए बेतहाशा पहाड़ नहीं काटे जायेंगे। इसी प्रकार वन उद्योग भी पर्वतीय क्षेत्र के भू-क्षरण को रोकने के लिए लगाये जायेंगे और उनका व्यावसायिक उपयोग उस क्षेत्र के पर्यावरण और उससे मिलने वाले लाभ को ध्यान में रखकर किया जायेगा। इतना ही नहीं यहां की भूमि रक्षा मैदानी इलाकों की भी समृद्धि सुरक्षित और स्थायी रखने में सहायक होगी। स्वस्थ और सुंदर मनुष्यों, पशुओं, वृक्षों और निर्मल जलधाराओं से भरा हुआ पर्वतों का विग्रह बड़ा ही सुंदर लगेगा। मैं पर्वतीय क्षेत्र के विकास, और उनकी निसर्ग सुंदरता को बनाये रखने को बहुत अधिक महत्व देता हूं। वह सौंदर्य तभी तक बना रह सकता है जब तक ये पर्वत "भास्वन्ति रत्ना नि महौसधीश्च" बने रहेंगे। वनस्पतियों के नाश होने से पहाड़ों का ही नाश हो जायेगा और हिमालय के नाश में भारत का सर्वनाश होगा।

विकास के इस प्रमुख और त्रिविध रूप का चर्चा तो हुआ। पर इनके साथ कुछ आनुसंगिक बातों को भी ध्यान में रखना ही होगा। इस संदर्भ में एक बात जो आवश्यक है वह आवागमन की सुविधा। उसके बिना इनका जीवन एकाकी और एकांगी दोनों ही बना रहेगा। आवागमन की सुविधा के लिए सड़कें जरूर बननी चाहिए। पर उस प्रकार नहीं जैसे आज बन रही हैं। सड़कों का बनना जरूरी है पर यह कहां की बुद्धिमत्ता है कि इनको बनाते हुए पहाड़ों, जंगलों और पशुओं के आवास को अंधाधुंध नष्ट किया जाये। ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि सड़कें बनाने के पूर्व उनकी उपयोगिता की पूरी छानबीन कर ली जाये। सड़कों के बनने के साथ भू-क्षरण के रोकथाम की पूरी जिम्मेदारी उसी विभाग को दी जाये और सड़क बनाने में हुए वनों के नाश की कमी को पूरा करने के लिए साथ के साथ वन खेती और वनीकरण की योजना को भी सम्मिलित कर लिया जाये। पहाड़ों में सड़कों से अधिक कारगर रज्जु मार्ग भी होते हैं। माल ढोने के लिए भी और कहीं-कहीं आवागमन के लिए भी। रज्जुमार्ग बनाने में तात्कालिक व्यय तो अधिक होगा पर दीर्घकालीन लाभ को देखते हुए यह विकल्प पर्वतीय क्षेत्रों के विकास में अनिवार्य हो गया है। इनसे वनों का अधिक नाश नहीं होता है और पर्वतों की निःसर्ग

शोभा चर्चा रहती है।

पर्वतीय क्षेत्र में मिलने वाली संपदा का पूरा-पूरा लाभ वहां के निवासियों को मिले और बाहरी बिचौलिये उनका शोषण न कर सकें इसके लिए भी कारगर कदम उठाना होगा। उनके फलों का विपणन और उनके संरक्षण के आधुनिक तरीके अपनाए जाने चाहिए। पुराने तरीकों से ही काम नहीं चलने का। हमें ऐसे साधन जुटाने ही पड़ेंगे जिनसे पर्वतीय क्षेत्रों के निवासी फलों, शाक-सब्जियों, दूध और मांस के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान दें। इनमें ही उनकी समृद्धि छिपी है। आहार के लिए अनाज की कमी उन्हें कभी नहीं होगी। जब ये पर्वत मैदानों को उनकी सुख सुविधा और समृद्धि को इतना प्रभूत साधन प्रदान करेंगे तो यह आशा करना कि उसके बदले में उनके लिए आवश्यक थोड़ा-सा अनाज मैदानी इलाके से उनको सदा मिलता रहेगा गलत नहीं है। ऐसा न भी होता तो भी इन पहाड़ों में ऐसी छोटी बड़ी घाटियां उपलब्ध हैं जिनके बल पर ये सदा आत्मनिर्भर बने रहेंगे। स्थानाभाव के कारण इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करना संभव नहीं हो रहा है। पर यह सत्य है कि अन्न की खेती पहाड़ों के हित में नहीं है, वहां के निवासियों के हित में नहीं है। पर्वतीय क्षेत्रों के विकास में ऋतु और ऊंचाई के आधार पर जितने प्रकार के भी फलों और सब्जियों का उत्पादन हो सकता है होना चाहिए। इसके लिए यहां के निवासियों को अपना स्वयं का संगठन बनाना पड़ेगा। बहुत से विषयों की जानकारी स्वयं करनी पड़ेगी और शासन को इसमें आवश्यक मदद देने का प्रबंध करना पड़ेगा। यहां यह फिर से स्मरण रखना होगा कि इस प्रकार उत्पन्न होने वाले फल शाक-सब्जी आदि का तात्कालिक संरक्षण हो सके और उत्पादकों को बिचौलियों का मुखापेक्षी न होना पड़े इसका प्रबंध आज के वैज्ञानिक युग में बनाये गये आधुनिक यंत्रों द्वारा किया जा सकता है।

विज्ञान और जीवन

विज्ञान और जीवन का संबंध "अराइव रथनाभि" जैसा है। जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे ही जीवन के साथ विज्ञान। इसीलिए कहा गया है जीवन विज्ञानमय है। विज्ञान जीवन की नाभि से जुड़ा हुआ है और जीवन-चक्र को घुमाने में, गति देने में, अरे जैसा काम करता है। अत: कहा है कि "विज्ञान तु इव विजिज्ञा सितव्यम्"।

सन् 1958 में जवाहरलाल जी की प्रेरणा से भारतीय संसद में विज्ञान की राष्ट्रीय नीति घोषित की गयी। इसकी घोषणा का जो प्रस्ताव पास हुआ, वह आज भी महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। उसका महत्त्व दो कारणों से और बढ़ गया है। एक कारण तो यह है कि उसके पारित हो जाने से भारत की गणना उन कतिपय राष्ट्रों में की जाने लगी है जो इसी कारण संसार में अग्रणी गिने जाते हैं। दूसरा कारण उस प्रस्ताव के कुछ मुख्य उद्देश्यों का आज तक अमल में न लाया जाना है। ये दोनों ही कारण उस प्रस्ताव को इसलिए महत्त्वपूर्ण बनाते हैं कि हमें उनकी गहराई से छानबीन करने की जरूरत महसूस होती रहती है।

जवाहरलाल जी ने पथ प्रदर्शक का काम किया था। उनके कारण देश में शोध संस्थानों का देखते-देखते एक जाल-सा बिछ गया। इस संदर्भ में स्व० डा० शांति स्वरूप भटनागर का भी नाम अपने आप सामने आ जाता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर देश में वैज्ञानिक मानसिकता बनाने का सूत्रपात सन् 1958 में हुआ उसी प्रकार उत्तर-प्रदेश में भी तत्कालीन मुख्यमंत्री डा० संपूर्णानंद की प्रेरणा से 1955-56 में इस क्षेत्र में पहल की गयी थी और राज्यों में सबसे पहले उत्तरप्रदेश में विज्ञान शोधसमिति की स्थापना हुई थी। पर इन दोनों महापुरुषों के चले जाने के बाद कुछ देर के लिए ऐसा लगा कि इस दिशा में होने वाले कामों में शिथिलता आ गयी। तभी से कुछ प्रश्न भी बराबर उभरते रहे हैं और अपना समाधान चाहते रहे हैं।

क्या कारण है कि 1958 में विज्ञान संबंधी राष्ट्रीय नीति की घोषणा हो जाने के बावजूद आज भी उसके कुछ मुख्य उद्देश्यों को चरितार्थ नहीं किया जा सका है? विज्ञान और तकनीक के उत्थान के जो उद्देश्य सामने रखे गये थे क्या उनका देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति के उद्देश्यों से तालमेल ठीक-ठीक नहीं बैठ रहा था? देश के विकास की समग्रता को ध्यान में रखते हुए विज्ञान और तकनीक को जो स्थान

अन्य आयोजनों के साथ दिया जा रहा था क्या वह प्राथमिकता की दृष्टि से और आवश्यक वित्तीय प्राविधान की दृष्टि से ठीक था ? कहीं इस संबंध में राष्ट्रीय स्तर पर दिग्भ्रम तो नहीं हो रहा था ? क्या हम देश में एक ऐसा अनुकूल सामाजिक और राजनैतिक वातावरण बनाने में सफल हो सके हैं जो विज्ञान और तकनीकी के प्रादुर्भाव और उन्नति की पहली शर्त होती है ? हमने अब तक ऐसे कौन से कदम उठाये हैं जिनसे लोकजीवन में विज्ञान के प्रति चेतना जागे ? यह और इनसे मिलते-जुलते प्रश्न बराबर मथते रहते हैं।

लोक-स्तर पर विज्ञान और तकनीक के प्रति सजगता उन्हें व्यापक बनाने में सहायक होती है। इनकी सफलताओं और उन्नति के लिए यह पहली और अनिवार्य शर्त होती है। अपने देश में, जिसका अतीत इन क्षेत्रों में भी, पर विशेषकर सामाजिक और सांस्कृतिक स्वातंत्र्य की दिशा में, अत्यंत गौरवशाली रहा हो, यह बात असहनीय रूप से दुखद हो उठती है कि उसका समाज, उसके समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा जड़ता की हद तक रुढ़िग्रस्त हो गया है। जिस देश में विज्ञान शब्द को लेकर यहां तक कहा गया कि "विज्ञान यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवा: सर्वे। ब्रह्म-ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद।" (तैत्तरीय उपनिषद) अर्थात् विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है। सारे देव ज्येष्ठ ब्रह्म विज्ञान की उपासना करते हैं। विज्ञान ब्रह्म है, ऐसा वेद कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी को यज्ञ कहा गया है। यहां यज्ञ से पृथ्वी का विस्तार जानना चाहिए। आज उसी देश में विज्ञान की उपेक्षा या उसके प्रति निष्ठा या सजगता की कमी बहुत दुखदायी स्थिति का संकेत करती है। इसी आखिरी सवाल को ध्यान में रखते हुए आगे का विचार प्रस्तुत किया जायेगा।

विज्ञान और तकनीक निरपेक्ष नहीं रह सकते। यद्यपि वैज्ञानिक इस नीति में विश्वास बनाये रखना चाहता है कि वह अपना काम शुद्ध ज्ञान की खोज करता हुआ, एषणाओं से ऊपर उठा हुआ, राजनीति, समाज और देश की अर्थव्यवस्था से असम्पृक्त रहता हुआ, करता रहता है। लेकिन क्या विज्ञान और तकनीक किसी भी देश की सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक विरासत से कट कर पनप सकते हैं ? यदि ऐसा होता है, या हो, तो निश्चय ही विज्ञान और तकनीक की उपलब्धियां कभी-कभी उस रास्ते को भी पकड़ ले सकती हैं जो समाज के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है। वह सब कुछ जो मनुष्य को वस्तुत: मनुष्य बनाता है, जिसकी आधारशिला पर मानव-अस्तित्व टिका हुआ है और जो हमारी संस्कृति और सभ्यता के विकास-क्रम को सातत्य देता है, वह सब, समाज के प्रति वैज्ञानिकों के दायित्वों की तीव्र संचेतना और आमविश्लेपण की शक्ति पर आधारित रहता है। आज सारे विश्व में जो संत्रास की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, उसमें जो आध्यात्मिक खोखलापन आ गया है, उसका प्रधान कारण यह है कि हमारे वैज्ञानिकों ने दृढ़ता से और संकल्पपूर्वक अपने को सामाजिक न्याय और महाकरुणा की संस्कृति के प्रति समर्पित नहीं किया। दूसरों की स्वार्थसिद्धि की भावना से किये गये कुछ वैज्ञानिक शोधों और उनकी उपलब्धियों के भय।

भी मिले हैं। अतः यह जरूरी जान पड़ता है कि विज्ञान और तकनीक का विकास मुख्यतः और पूर्णतः मानव समाज के पुनर्निर्माण में, मानवीय मूल्यों के संस्कार में, उनके प्रति हमारा जो सांप्रतिक दृष्टकोण हो गया है उसको वदलने और उनकी समीक्षा की दृष्टि से किया जाये।

आज से तीस वर्ष पूर्व जवाहरलाल जी ने भी इसी प्रश्न को अपने ढंग से उठाया था। उन्होंने प्रश्न किया था : "क्या विज्ञान उद्योग का दास है ?" और स्वयं ही उन्होंने इसका उत्तर भी दिया : "निश्चय ही विज्ञान उद्योग की मदद करना चाहता है, पर उसका मूल उद्देश्य केवल उद्योग को वढ़ावा देना नहीं है, वल्कि उसके जरिये वह राष्ट्र को इतना धंधा प्रदान करना चाहता है ताकि आम आदमी अच्छी तरह से रह सके और अपने विकास के लिए अधिक अवसर पा सके।" ऐसा लगता है कि अपने इस उत्तर से पं० नेहरू को संभवतः संतोष नहीं हुआ और उन्होंने फिर एक दूसरा प्रश्न उठाया कि विज्ञान का अंततः उद्देश्य क्या है ? और फिर अपने इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था कि "विज्ञान का मूल उद्देश्य प्रकृति का सहयोग प्राप्त करना है और उसके सहयोग से उसके रहस्यों का उद्घाटन करना है, उन्हें समझना है और उनका लाभ मानवता को पहुंचाना है।" उन्होंने कहा कि "विज्ञान का चरमोद्देश्य ज्ञान है, आत्मज्ञान और जगत के रहस्यों का ज्ञान।" इस संदर्भ में उन्होंने एक और दिलचस्प सवाल भी उठाया और कहा कि "क्या मैं पूछ सकता हूं कि समाज का या सामाजिक व्यवस्था का चरमोद्देश्य क्या है ?" इसका समाधान करते हुए उन्होंने कहा था कि एक ओर तो ऐसा लगता है कि उसका उद्देश्य थोड़े बहुत परिवर्तन और कुछ जोड़ने और कुछ सुधारने के रूप में यथातथ्य की स्थिति को बनाये रखना है; और दूसरी ओर विज्ञान के क्रियात्मक सिद्धांत के कारण जो ज्ञान के नये दरवाजे खोलता रहता है, जो परिवर्तन के झोंके लाता रहता है, जीवन को नूतनता देता है और जड़ता को ललकारता रहता है उससे समाज तेजी से आगे बढ़ना चाहता है। इस प्रकार हम एक टकराहट की स्थिति में आ जाते हैं। एक ओर परंपरा और रूढ़िवादिता को बनाये रखने की हविस और दूसरी ओर विज्ञान का नवोन्मेप।

"अतः वैज्ञानिक की हम तारीफ तो करते हैं, उसे उसकी उपलब्धियों के लिए सम्मानित भी करते हैं, किंतु उसे पूरी तरह स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह पूर्व निर्मित और पहले से चली आती व्यवस्था और विचारधारा में उथल-पुथल पैदा करता रहता है।"

सामान्य और रूढ़िग्रस्त समाज की स्थिरता तथा सामान्यतः वैज्ञानिक शोधों की परिवर्तनकारी प्रवृत्ति के वीच इस प्रकार के संघर्ष की ओर ध्यान दिलाने से जो एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने उभर कर आया वह यह कि विज्ञान के विकास से ही सामाजिक परिवर्तन संभव है। विज्ञान की प्रगति और उसके आविष्कार कभी-कभी उन अवधारणाओं को ही वदल देते हैं जिनके वल पर समाज टिका हुआ होता है। इसमें संदेह नहीं कि वैज्ञानिक आविष्कारों ने जीवन शैली को वदला है, उन धारणाओं को

बदला है जिनसे मानव जीवन और उसकी सत्ता अभी तक प्रभावित होती चली आ रही थी। ऐसी स्थिति में यह जरूरत से ज्यादा स्पष्ट हो जाता है कि जब परंपरा से चली आती हुई समाज की रूढ़िवादिता सामाजिक परिवर्तन का रास्ता रोक कर खड़ी हो तो उस समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न करने की जरूरत और भी ज्यादा तीव्र हो जाती है।

यह सारी बातें उसी राष्ट्रीय नीति के प्रस्ताव में स्पष्ट की गयी थीं जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। लेकिन इन बातों को अमली जामा पहनाने में बड़ी दर्दनाक शिथिलता दिखायी गयी। पं० नेहरू ने स्वयं इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने कहा था कि बहुत सारे लोग, खास कर हमारे उद्योगपति विज्ञान के बारे में, उसकी प्रगति की आवश्यकता के बारे में, बेसाख्ता बोलते तो रहते हैं, पर सोचते हैं कि विज्ञान उनके उद्योग का दास है जो उनकी कठिनाइयों का हल निकालने के लिए ही उद्यत रहता है। माना कि उद्योग की समृद्धि से राष्ट्र समृद्ध होता है और जीवन-स्तर ऊंचा होता है और यह सब विज्ञान करता रहता है; पर निश्चय ही विज्ञान का मूल उद्देश्य इससे परे है। वह इन सबसे ऊपर देखता है। यह जो बार-बार मूल उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाने की कोशिश जवाहरलाल जी करते रहे, आज उसी की ओर से हमारा ध्यान हट गया है। जवाहरलाल जी के न रहने पर जो बात राष्ट्रीय स्तर पर हुई संपूर्णानंद जी के हटने पर वही बात उत्तरप्रदेश में प्रादेशिक स्तर पर भी घटित हुई। सत्यान्वेषण की इस अनवरत प्रक्रिया से स्वभावतः, जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, मनुष्य के चिरपरिचित मूल्यों और जिनसे वह सदियों के अभ्यस्त चला आ रहा होता है, उनकी ओर उसके सोचने और रहने के तरीकों को धक्का लगता है। ऐसा भी झटका लगता है कि उसकी सारी व्यवस्था ही उलट-पलट हो जाती है। विज्ञान इतिहास की भांति पुनरावृत्ति नहीं करता। वह सदा आत्म चेतना और विश्व का नया ज्ञान सामने रखता रहता है।

नेहरू जी ने इस पक्ष पर और भी प्रकाश डाला था। एक बार उन्होंने यह प्रश्न उठाया था कि "विज्ञान की आत्मा क्या है?" जैसाकि हम भली भांति जानते हैं कि पंडित नेहरू के लिए इसके कई अर्थ होते थे। उनके लिए विज्ञान की आत्मा केवल इस बात में नहीं थी कि वह अनोद्घाटित सत्य के नित नवीन पक्षों का उद्घाटन करता रहता है वरन् वह यह भी मानते थे कि वह पुराण भी है। अर्थात् पुराने को नया भी करता रहता है और यदि कोई चीज सत्य की स्थापना में आड़े आती है तो उसे ध्वस्त भी करता रहता है। वह इस बात में विश्वास करते थे कि पुराने के साथ जुड़े रहना, केवल इसलिए कि वह पुराना है, और समाज इतने दिनों तक उसे सत्य मानकर ढोता चला आया है, जड़ता का द्योतक है और उसे ध्वस्त करने के लिए वे प्रस्तुत रहते थे। यदि विज्ञान-सत्य उसके प्रतिकूल होता जान पड़ता था तो वह किसी भी पुरानी सामाजिक, औद्योगिक और आर्थिक व्यवस्था के साथ बंधे रहने के लिए तैयार नहीं थे। इस दृष्टि से पंडित नेहरू विज्ञान को सर्वथा निरपेक्ष मानने के लिए प्रस्तुत नहीं प्रतीत होते थे।

सामाजिक परिवर्तन लाने में, और प्रकृति को नये रूप से ग्रहण करने में तथा मानवीय पर्यावरण को समाज की नयी आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ बनाने के लिए, उनके मतानुसार विज्ञान को एक सार्थक भूमिका अदा करनी थी। उसका एक सुनिश्चित उद्देश्य था। पर विज्ञान अपने इस कर्त्तव्य का पालन कर ही नहीं सकता यदि उसे एक ऐसे मानव-समाज में काम करना हो जिसका दृष्टिकोण विज्ञान से सर्वथा विमुख हो गया हो।

इस बात से कतई मतभेद नहीं है, और हो भी नहीं सकता कि जीवन-दर्शन का आधार वैज्ञानिक होना चाहिए; नित नयी शोधों का आदर होना चाहिए; और उनके अनुसार व्यवस्था में गतिशीलता और परिवर्तन होते रहने चाहिए। वैज्ञानिकों का सामाजिक दायित्व भी स्वीकार करने में किसी को एतराज नहीं होगा। पर साथ ही हम यह भी देख रहे हैं कि विज्ञान का उपयोग, उसका अध्ययन और उसे प्रोत्साहन कुछ इस प्रकार केंद्रित और नियोजित होता जा रहा है कि जिसमें इस पृथ्वी से जीव मात्र के नाश की आशंका अधिकाधिक वढ़ती जा रही है। इसलिए यह वहुत जरूरी हो गया है कि वैज्ञानिक वरावर अपनी अंतरात्मा को सजग रखें और शासन या वड़े उद्योग-पतियों या उनके गुटों के दवाव में पड़कर ऐसा कोई काम न करें जो भावी सर्वनाश का द्वार खोलता हो। आत्मरक्षा और आक्रमण में भेद करना तो कभी-कभी कठिन जरूर हो सकता है, पर आक्रमणकारी को वैज्ञानिक उपलब्धियों का दुरुपयोग करने से सदा रोका जा सकता है।

विज्ञान का जीवन से एक और अभिन्न संवंध है। विज्ञान समाज की आर्थिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की गरीवियां दूर करने में समर्थ है। पर जव वह आर्थिक गरीवी को दूर करने में सामाजिक विषमता लाने लगे और आध्यात्मिक खोखलेपन का सृजन करने लगे तो उसका दायित्व कलुषित हो जाता है। अगर भारत को विश्व के अन्य राष्ट्रों के बीच अपना समुचित स्थान प्राप्त करना है, अगर उसे मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास में अपने को प्रासंगिक वनाना है तो उसे अपने समाज से गरीवी को यथाशीघ्र दूर करना ही होगा। इसके साथ ही उसे इस वात का भी ध्यान रखना होगा कि उसके पड़ोसी भी निर्धन न रहें। किसी भी पड़ोसी की वढ़ती हुई गरीवी उसके समीपस्थ देश की समृद्धि के लिए खतरा वन जाती है। यही वात ज्ञान और विज्ञान तथा आध्यात्मिक समृद्धि के क्षेत्र में भी लागू होती है। हमें इस वात का वरावर प्रयत्न करते रहना होगा कि ज्यों-ज्यों हम इस क्षेत्र में समृद्ध होते जायें, अपने पड़ोसियों को भी उतना ही समृद्ध वनने की क्षमता वढ़ाते जायें। यह दृष्टिकोण विज्ञान के ज्ञान और जन-जीवन में उसके प्रसार से ही उत्पन्न हो सकता है।

अपने देश की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी भी आज इस वात को वार-वार दुहरा रही हैं कि "आत्मनिर्भरता, परमुखापेक्षिता की स्थिति से वचाव, विज्ञान और तकनीक के उत्कर्ष का मूल उद्देश्य है, अत: इसे हर प्रकार के संसाधनों का सहारा मिलना जरूरी है।" उन्होंने प्रत्येक मंत्रालय और सरकारी संस्थानों का ध्यान इस ओर

आकृष्ट किया है और कहा है कि "उन्हें वैज्ञानिक समाज से कारगर तालमेल रखना जरूरी है। हमें हर प्रकार के संसाधनों पर विशेष विचार करने की जरूरत है।" ये हर प्रकार के संसाधन क्या हो सकते हैं? पाश्चात्य देशों में बड़े उद्योगों ने विज्ञान और तकनीक के विकास में प्रभूत आर्थिक सहायता दी है। इस प्रकार उन देशों का औद्योगीकरण तेजी से हुआ है और इन उद्योगों ने आगे बढ़कर अपने को "वैज्ञानिक समुदाय" में सम्मिलित किया है और उसे बृहत्तर बनाया है। उन देशों में वैज्ञानिकों को अपना काम करने का पूरा अवसर देने के लिए जितने धन की जरूरत पड़ी है वह शासन की ओर से भी आया है और उद्योगों की ओर से भी। इस प्रकार उनका मनोबल बढ़ा है। पर संसाधन इतने ही नहीं होते। केवल आर्थिक सहायता ही विज्ञान की प्रगति का एकमात्र कारण नहीं बन सकती। उसे तो पूरे समाज का संरक्षण और नियंत्रण भी चाहिए; अन्यथा वह निरंकुश भी हो सकता है। विज्ञान दुरभिसंधि में भी पड़ सकता है और तकनीक हमें अमानवीय भी बना सकती है। अतः मानवता को विज्ञान की उपलब्धियों का समुचित उपयोग करने के लिए पुरश्चरण आवश्यक है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग ने छठी पंचवर्षीय योजना में विज्ञान और तकनीक के विकास के लिए और वैज्ञानिक मानसिकता को बनाने के उद्देश्य से 1980-85 के लिए 1919.41 करोड़ रुपया का प्राविधान किया है। पांचवीं योजना अवधि के मात्र 20 करोड़ के प्राविधान को देखते हुए यह बहुत बड़ी रकम मालूम पड़ती है और सराहनीय कदम है। पर इसके व्यय के विस्तार को भी सुनियोजित करना जरूरी है। यह आर्थिक संसाधन जो विज्ञान और तकनीक को दिया गया है वह समाज की गाढ़ी कमाई का संसाधन है। कोई कह सकता है कि यह बात तो शासन द्वारा खर्च किये जाने वाले प्रत्येक पैसे पर लागू होती है। यह भी सही है। इससे मतभेद नहीं हो सकता। योजना आयोग ने पांचवीं पंचवर्षीय योजनाओं में हुए व्यय के ऊपर अपनी टीका प्रस्तुत की है। अतः उसके विस्तार में जाने की जरूरत नहीं जान पड़ती है। इस प्राविधान के व्यय का विस्तृत ब्यौरा देते हुए आयोग ने कहा है कि "विज्ञान और शिल्प विज्ञान के लिए उच्च स्तर पर मंत्रिमंडल की एक उपसमिति बनायी जायेगी जो विज्ञान और शिल्प विज्ञान से संबंधित सभी महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करेगी। मंत्रिमंडल समिति की सहायता के लिए एक वैज्ञानिक सलाहकार समिति बनायी जायेगी। जनता की आकांक्षाओं और उन्नत राष्ट्रों की उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए यह समिति विज्ञान और शिल्प विज्ञान की नीतियों का समीक्षात्मक मूल्यांकन करेगी तथा सरकार को उपयुक्त सिफारिशें करेगी। इस विषय पर लिखे गये पूरे अध्याय में "जनता की आकांक्षाओं" और "मानव संसाधन" शब्दों या समूहों के अतिरिक्त, विस्तार से कहीं कुछ नहीं कहा गया है। क्या इन दोनों व्याख्या रहित शब्द समूहों का संबंध केवल "आकांक्षाओं" और "मानव संसाधनों" के आर्थिक पक्ष से ही है? "ग्रामीण विज्ञान" की ओर भी जहां ध्यान गया है वहां भी आर्थिक पक्ष ही उभर कर सामने आया है। यह आर्थिक पक्ष और इसकी उन्नति जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है बहुत जरूरी है। किंतु इस

आर्थिक पक्ष को भी उन्नत करने में यदि जनता की गाढ़ी कमाई ठीक से उपयोग में न लायी गयी तो पांच वर्ष बीत जाने के बाद हम कहां रहेंगे ? सलाहकार समिति अन्य राष्ट्रों की उपलब्धियों की जानकारी तो विदेश यात्राएं करके प्राप्त कर लेगी पर क्या उसी प्रकार गांवों में भी जाकर "जनता की आकांक्षाओं" की जानकारी की जायेगी ? इतना ही नहीं उन बातों का भी क्या होगा जिनकी ओर पंडित नेहरू ने बार-बार ध्यान दिलाया था। आध्यात्मिकता को वैज्ञानिक आधार और विज्ञान को आध्यात्मिक धरातल देने के बारे में इस दस्तावेज से कहीं कुछ विशेष जानकारी नहीं मिलती।

विज्ञान समाज का अभिन्न अंग है। इसका समाज से वैसा ही संबंध है जैसा तरंगों का समुद्र से। ऐसी दशा में जब विज्ञान की उन शक्तियों का चर्चा जरूरी हो जाता है जो समूचे समाज में उथल-पुथल ला सकती है, उसके ढांचे का आमूल परिवर्तन कर सकती हैं, तब हमारा ध्यान उस ओर भी जाना चाहिए जहां यह शक्तियां एक रिक्तता, एक शून्यता भी पैदा कर जाती हैं जिसके न भरने पर उसका खालीपन तो खलता ही है, किंतु जब यह खालीपन कूड़े-करकट से भरने लगता है तो दुःसह भी हो जाता है। अतः विज्ञान की राष्ट्रीय नीति के निर्माता पं० नेहरू की आवाज के मर्म को एक बार फिर से सुनने और समझने की आवश्यकता जान पड़ती है। वैज्ञानिक मानसिकता को आध्यात्मिक धरातल पर बनाये रखने की जरूरत है।

